अध्याय–1

शस्य विज्ञान

भारतीय कृषि का इतिहास, शाखाएँ, महत्व एवं क्षेत्र

(Indian Agriculture : History, Branches, Scope & their Importance)

हमारे देश की लगभग 70 प्रतिशत आबादी कृषि व कृषि उद्योगों पर निर्भर हैं। प्राचीन काल से ही भारत कृषि प्रधान देश रहा हैं। भारत के प्राचीन ग्रन्थों यथा वृक्षायुर्वेद, कृषि पाराशर, कृषि सूक्त, अथर्ववेद, ऋग्वेद आदि का अध्ययन करने से स्पष्ट होता हैं, कि प्राचीन समय से ही कृषि, भारत में अपना विशिष्ट स्थान रखती थी। खाद्य कृषि संगठन (FAO) के कृषि विशेषज्ञ रह चुके डॉ. के.एल.मेहरा ने बताया कि सरस्वती नदी के उद्भव का पता लगने के बाद शोध द्वारा यह प्रमाणित हो गया हैं कि भारत प्राचीन काल से ही एक साथ दो फसलें लेने वाला दुनिया का पहला देश हैं, इस तरह भारतीय कृषि सभ्यता विश्व की प्राचीनतम् सभ्यता मानी जाती हैं।

मनुष्यों की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति कृषि द्वारा ही होती हैं। आहार, वस्त्र, आवास सहित सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कृषि अथवा कृषि आधारित उद्योगों से होती हैं।
प्राचीन समय से ही राज्य व्यवस्था चलाने में कृषि को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

महाभारत के सभापर्व में ऋषि नारद, युधिष्ठिर से कहते है- '' हे राजन कृषि को सुधारने हेतु स्थान–स्थान पर कुएँ, बावड़ी, तालाब इत्यादि खुदवायें जायें, ताकि आपके राज्य में कृषि वर्षा पर ज्यादा निर्भर न रहें।''

प्राचीन ग्रन्थों में अक्षत (चावल), कनक (गेहूँ), जौ, तिल, श्रीफल (नारियल), हल्दी, चन्दन, ईख,राई, मेथी, सूत (कपास) इत्यादि का उल्लेख किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि भारत में कृषि उपज का अस्तित्व हजारों वर्ष पूर्व भी था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा सभ्यता काल के अवशेषों में कृषि उपज के अवशेष भी प्राप्त हुये हैं।

निम्न उदाहरणों से प्राचीन भारत में उन्नत कृषि ज्ञान की पुष्टि की जा सकती हैं –

(1) ऋग्वेद की ऋचाओं में पर्यावरण, वानिकी, कृषि उपकरण आदि का महत्व दर्शाया गया है।

(2) मोहन जोदड़ो व हड़प्पा सभ्यता से देशी हल, जुते हुए खेत, अनाज भण्डारण, पहिये वाली गाड़ी के अवशेष मिले हैं।

(3) अथर्ववेद में पादप सुरक्षा संबंधी जानकारी दी गई हैं।

(4) वाराहमिहिर के वृहत संहिता में मृदा वर्गीकरण,सिंचाई प्रणाली, कृषि उपकरण एवं मौसम पूर्वानुमान की जानकारी दी गई हैं।

अतः प्राचीन भारतीय कृषि में निहित परम्परागत ज्ञान को आधुनिक कृषि विज्ञान की उन्नत प्रौद्योगिकी के साथ समाहित करके कृषि का समुचित विकास किया जा सकता हैं।

कृषि की परिभाषाः– कृषि शब्द संस्कृत की 'कृष' धातु से बना है, जिसका अर्थ है– खींचना, आकर्षित करना, जोतना, प्राप्त करना होता है। कृषि (कृष+इन्, कित्) का अर्थ– जुताई, खेती, किसानी, अतः कृषि से तात्पर्य जुताई आदि करके फसल प्राप्त करना है। AGRICULTURE (कृषि) शब्द लैटिन भाषा के शब्द Ager or Agri तथा Cultura से लिया गया हैं, जिसका अर्थ क्रमशः मृदा एवं कृषि कर्म करना हैं। इस प्रकार कृषि विज्ञान एक विस्तृत शब्द हैं जिसमें फसल उत्पादन, पशुपालन, मछली पालन, वानिकी आदि के सभी तत्व समाहित होते हैं।
इस प्रकार कृषि को हम इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं – मनुष्य की वह क्रिया जिसका मुख्य उद्देश्य धरातलीय संसाधनों से खाना, रेशा, ईंधन आदि का उत्पादन हैं।
सामान्यतया जीवन निर्वाह व आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये फसल उत्पादन, पशुपालन आदि की कला व विज्ञान को कृषि विज्ञान कहते हैं।
परम्परागत कृषि के लिये जहाँ केवल अनुभव व दक्षता ही आवश्यक हैं, वही आधुनिक कृषि के लिये अनुसंधान, सिद्धांत, तकनीक, क्रमबद्ध व सुव्यवस्थित ज्ञान, प्रायोगिक अभ्यास, सहित कृषि का यंत्रीकरण भी आवश्यक हैं।
आधुनिक भारत में भी कृषि विकास का एक लम्बा इतिहास रहा हैं। डॉ. एम. एस. रंधावा की पुस्तक "भारत में कृषि का इतिहास" में भारतीय कृषि का वर्णन प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया हैं।
सन् 1899–1900 के भीषण अकाल को देखते हुये, इस समस्या के स्थायी समाधान और कृषि के चहुँमुखी विकास के लिये सन् 1904 में भारतीय कृषि बोर्ड की स्थापना हुई। सन् 1905 में बिहार के दरभंगा जिले में गंडक नदी के किनारे कृषि शोध कार्यों के लिये फिप्स प्रयोगशाला की स्थापना की गई,
यह क्षेत्र पूसा (Phipps of USA)के नाम से प्रसिद्ध हुआ।
पूसा स्थित कृषि संस्थान का 1911 में इम्पीरियल इंस्टीट्यूट ऑफ एग्रीकल्चर रिसर्च नामकरण किया गया।

सन् 1919 में यह इम्पीरियल एग्रीकल्चर रिसर्च इंस्टीट्यूट (IARI) के नाम से प्रचलित हुआ। इस संस्थान में फसलों और पशुओं के प्रजनन, मृदा विज्ञान, कीट व कवक विज्ञान और वनस्पति विज्ञान आदि विषयो में अनुसंधान हेतु व्यापक रूपरेखा तैयार की गई।

7 नवम्बर 1936 को बिहार में विनाशकारी बाढ़ के कारण क्षतिग्रस्त हुए पूसा इंस्टीट्यूट को दिल्ली स्थानान्तरित किया गया। जिसे आज भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान (IARI) के नाम से जाना जाता है।

1960 में खाद्यान्नों की उपलब्धता सुनिश्चित करना देश के लिये एक गहन चुनौती थी, तब भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के तत्कालीन महानिदेशक डॉ. बी.पी.पाल व पूसा संस्थान के निदेशक डॉ. एम.एस.स्वामीनाथन ने योजनाबद्ध तरीके से कृषि विकास की रूपरेखा तैयार की। सन् 1963 में बौने गेहूँ के जनक नार्मन ई. बोरलॉग ने भारत का भ्रमण किया। अधिक उपज देने वाली गेहूँ की किस्में तैयार करने से देश को खाद्य सुरक्षा प्राप्त हुई और देश में हरित क्रांति का सूत्रपात हुआ। कालांतर में देश में 1929 में नई दिल्ली में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् (ICAR) की स्थापना हुई और उसके तहत स्थापित विभिन्न कृषि अनुसंधान केन्द्र, कृषि विश्वविद्यालय व अन्य कृषि संस्थानों के माध्यम से सतत् कृषि अनुसंधान एवं प्रसार के फलस्वरूप डॉ. स्वामीनाथन एवं डॉ. बोरलॉग के सफल प्रयासों के परिणामस्वरूप भारत में तेजी से कृषि उपज में आशातीत वृद्धि हुई, जिससे हमारा देश विभिन्न क्षेत्रों में आत्मनिर्भर बन गया।

कृषि विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ –

1. शस्य विज्ञान (Agronomy) – ग्रीक भाषा के शब्द 'एग्रोस' (Agros-Field) अर्थात् खेत तथा नोमोस (Nomos-Management) अर्थात् प्रबन्धन से बना हैं। यह कृषि की एक विशेष शाखा हैं जिसका सम्बन्ध फसल उत्पादन एवं मृदा प्रबन्धन से हैं।

2. उद्यान विज्ञान (Horticulture) – बागवानी (फल, सब्जी, पुष्प) से सम्बन्धित फसलों एवं कार्यों का अध्ययन किया जाता हैं।

3. पशुपालन एवं पशुधन उत्पादन (Animal Husbandry) – पशुओं को पालने का वैज्ञानिक अध्ययन इस शाखा के अन्तर्गत किया जाता हैं।

4. मधुमक्खी पालन (Apiculture) –इस शाखा के अन्तर्गत मधुमक्खी पालन एवं शहद उत्पादन से सम्बन्धित अध्ययन किया जाता है।

5. मछली पालन (Fishery)– कृषि विज्ञान की इस शाखा के अन्तर्गत मछली पालन एवं उत्पादन से सम्बन्धित वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता हैं।

6. रेशम कीट पालन (Sericulture) – इस शाखा के अन्तर्गत रेशम कीट पालन एवं रेशम उत्पादन का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता हैं।

7. लाख उत्पादन (Lac Culture) – इस शाखा के अन्तर्गत लाख उत्पादन से सम्बन्धित अध्ययन किया जाता हैं।

8. वन विज्ञान (Forestry) – इसके अन्तर्गत वनों में उगने वाले पौधों के उगाने एवं उनके उपयोग का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

9. मशरूम उत्पादन (Mushroom Production)– इस शाखा के अन्तर्गत मशरूम उत्पादन का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता हैं।

10. कुक्कुटपालन (Poultry)–इस शाखा के अन्तर्गत कुक्कुट (मुर्गी) पालन का विस्तृत अध्ययन किया जाता हैं।

11. कीट विज्ञान (Entomology) – कृषि विज्ञान की इस शाखा में कीट सें फसलों पर पड़ने वाले प्रभाव से सम्बन्धित वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता हैं।

12. पादप रोग विज्ञान (Plant Pathology)– पौधे पर लगने वाले विभिन्न रोग, रोग कारक एवं उनके नियन्त्रण का विस्तृत अध्ययन इस शाखा में किया जाता हैं।

13. कृषि प्रसार (Agricultural Extension)– कृषि अनुसंधान से प्राप्त नवीन तकनीकी जानकारी को किसान के खेत तक पहुँचाने का अध्ययन अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम से इस शाखा में किया जाता है।

14. कृषि अर्थशास्त्र (Agricultural Economics) – कृषि लागत एवं आय की गणना का विस्तृत अध्ययन इस शाखा में किया जाता है।

भारतीय कृषि का महत्व :–

भारतीय कृषि का महत्व

भारत जलवायु की विविधता वाला देश है, यहाँ अलग–2 भौगोलिक खण्डों में वर्षा, तापमान, आद्रता, वायुदाब, वायुवेग का स्तर अलग–2 है।

चूंकि कृषि कार्य के लिये उपयुक्त जलवायु, भूमि, मीठा जल, उन्नत बीज, सस्ते मजदूर की उपलब्धता आवश्यक है। इसलिये भारत विश्व के अनेक देशों की अपेक्षा खेती व कृषि के अन्य कार्य की दृष्टि से उपयुक्त स्थान माना जाता है।

अतः भारतीय कृषि का निम्नलिखित महत्व है –

1. मानसून पर आधारित खेती – भारत में अधिकांश क्षेत्र में भूमिगत जल स्तर या तो कम है, या जल खारा है। जो सभी फसलों के लिये उपयुक्त नहीं है।

चूंकि भारत में वर्ष में 6 माह दक्षिणी पश्चिमी मानसून की हवाएँ चलती है, जिससे भारत के अधिकांश क्षेत्रों में जून माह से

अक्टूबर माह तक वर्षा होती है। कुछ क्षेत्रों में दिसम्बर–जनवरी माह में भी वर्षा होती है। अतः भारत के अधिकांश किसान वर्षा आधारित कृषि (Rainfed cultivation) कार्य करते हैं। अधिकांश क्षेत्रों में भूमिगत व सतही सिंचाई स्रोत भी मानसून के वर्षा जल से परिपूर्ण होते है। अतः वर्षा की अनियमितता या कमी से खेती पर विपरीत असर पड़ता है। फसल की बुवाई से लेकर उपज प्राप्ति तक सभी कार्य प्रभावित होते हैं। जबकि अच्छी वर्षा होने पर पैदावर अच्छी हो जाती है।

2. अधिकांश जनसंख्या कृषि पर निर्भर – भारत में 70% लोग खेती करते है। इससे जहाँ एक ओर रोजगार के पर्याप्त अवसर मिलते है। लेकिन अकाल पड़ने व फसल खराब होने पर खाद्यान्न संकट उत्पन्न हो जाता है।

3. परम्परागत तकनीकी – भारत में किसान परम्परागत खेती करते है, किसान को खेती का कार्य विरासत में मिलता है, जिससे अनुभव व कौशल से वह परिपूर्ण होता है, लेकिन नवीन तकनीक का उसे ज्यादा ज्ञान नहीं होता है। जिससे उत्पादन बढ़ाने का प्रयास वह नहीं कर पाता है। अब वह कुछ मात्रा में उन्नत तकनीक, बीज खाद, कृषि यंत्रो का प्रयोग करके खेती में सुधार कर रहा है।

4. खाद्यान्न फसलों की अधिकता – भारत के किसान अपनी आवश्यकता को देखकर खेती में फसलों का चयन करते है। उसे खाद्यान्न की प्राथमिक आवश्यकता रहती है। इसलिये अधिकांश किसान अनाज वाली फसलें ज्यादा मात्रा में बोता है। दलहन, तिलहन व अन्य रोकड़ फसलें कम बोता है। जिससे उसे रोकड़ आमदनी कम प्राप्त होती है।

5. रोजगार का प्रमुख साधन – भारत में कृषि आधारित उद्योग रोजगार के प्रमुख साधन है। अधिकांश जनसंख्या खेती पर निर्भर होने से अकाल, बाढ़ या फसल खराब होने पर लोगों का बड़े स्तर पर रोजगार प्रभावित होता है। जिससे किसान व मजदूर कर्जदार हो जाता है, ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा के प्रति जागरूकता कम है। अतः अन्य रोजगार के अवसर वह खोज नहीं पाता है।

6. राष्ट्रीय आय का प्रमुख स्रोत – भारत के 70% लोगों से प्राप्त कृषि उपज के कृषि व्यापार से प्राप्त विभिन्न प्रकार के कर के रूप से सरकार को आय प्राप्त होती है। यदि कभी फसलें खराब होती है, तो राष्ट्रीय आय भी प्रभावित हो जाती है।

कृषि विज्ञान के क्षेत्र (Scope)

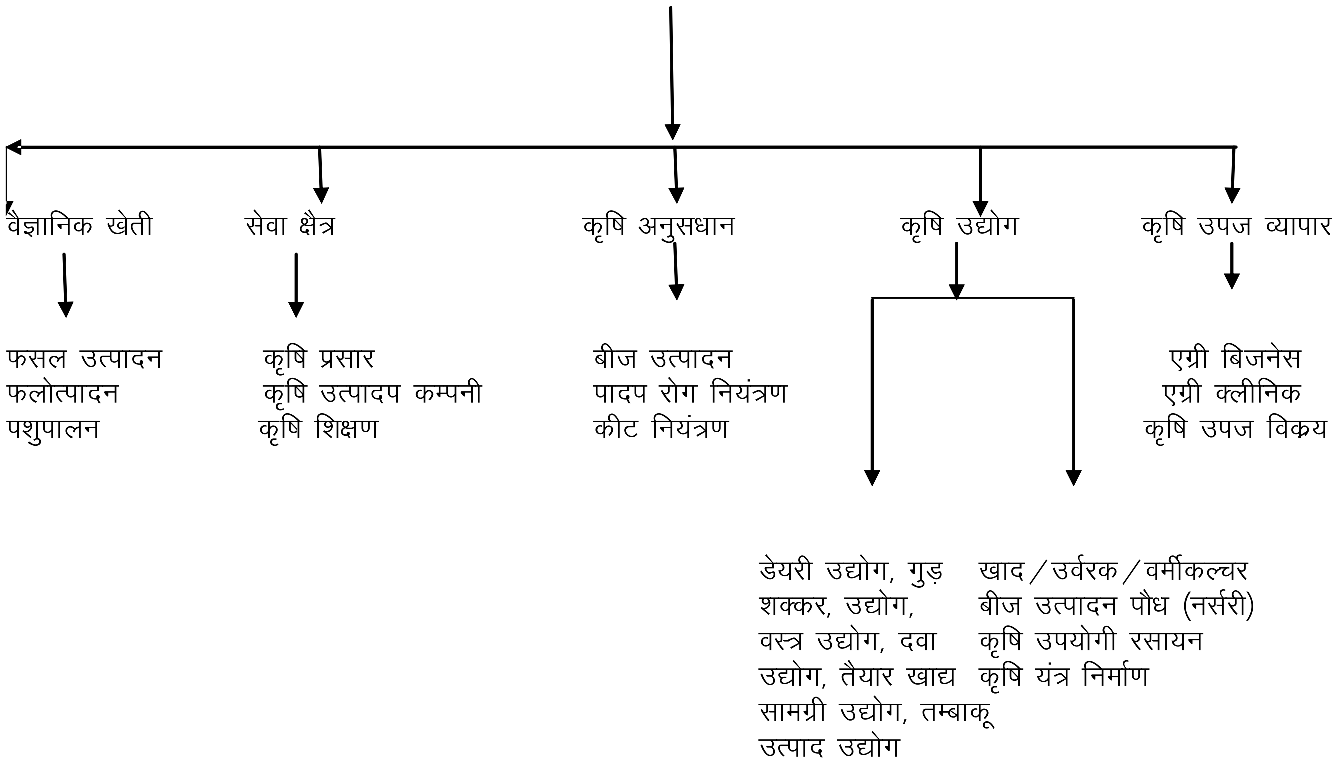

7. डेयरी उत्पादन के लिये कच्चामाल – भारत में अधिकांश किसान खेती के साथ–साथ पशुपालन करते है, जिससे प्राप्त दूध ही डेयरी उद्योग का आधार है। किसान अपने खेत पर पशुओं के लिये चारा तैयार करता है तथा फसल अवशेष को भी पशु चारे के रूप में प्रयोग करता है।

8. खाद्यान्न उपलब्धता – भारत की जनसंख्या वर्तमान में 125 करोड़ है। इतनी बड़ी जनसंख्या को भोजन प्रदान करने के लिये बहुत बड़ी मात्रा में खाद्यान्न की आवश्यकता होती है। हमारे यहाँ खेती की उपज द्वारा अधिकांश किसान गेहूँ, जौ, चावल, मक्का, बाजरा, ज्वार, इत्यादि अनाज की पूर्ति देश को कर देता है। हरित क्रांति के द्वारा हमारे देश में खाद्यान्न की उपलब्धता कई गुना बढ़ गई, जिससे खाद्यान्न की उपलब्धता के मामले में देश आत्मनिर्भर हो गया है तथा भारत खाद्यान्न का निर्यात भी करता है।

9. वस्त्र उद्योग के लिए कच्चा माल– भारत में कपास, जूट का उत्पादन बहुतायत से होता है। अतः वस्त्र उद्योग के लिये भी पर्याप्त कच्चा माल देश के किसान उत्पादित कर देते है।

10. पशु चारा उपलब्धता – किसान द्वारा उत्पादित फसलों के अवशेष को सूखे चारे के रूप में किसान संग्रहित करता है। साथ ही खेत में हरे चारे को उगाकर पशुओं को उपलब्ध कराता है। जिससे देश में पशुपालन व डेयरी उद्योग का विकास तेजी से हो रहा है।

11. कृषि आधारित उद्योगों के लिये कच्चा माल– भारत में दलहन, तिलहन, वस्त्र, डेयरी, जूट उद्योग, चीनी उद्योग, फल व सब्जी प्रसंस्करण उद्योग के लिये कच्चा माल खेती से ही प्राप्त होता है। मूँग, उड़द, अरहर,चना, मसूर इत्यादि का उत्पादन दाल उद्योग को कच्चा माल प्रदान करता है। इसी तरह तिल, मूँगफली, सरसों के उत्पादन से खाद्य तेल के उद्योग चलते है तथा कपास व जूट से वस्त्र उद्योग चलता है।

12. बेरोजगारी की समस्या का समाधान – भारत में अच्छे मानसून से पर्याप्त वर्षा होने पर कृषि उत्पादन अच्छा होता है जिससे अधिकांश बेरोजगारों को रोजगार के अवसर प्राप्त हो जाते हैं।

13. विदेश व्यापार व निर्यात – हमारे देश के फल, सब्जी, पुष्प, अनाज, दलहन, तिलहन के प्रसंस्करण के पश्चात उनका निर्यात किया जाता है। जिससे भारत को काफी विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है।

14. देश की आर्थिक विकास में योगदान– जब किसी देश का कृषि उत्पादन बढ़ता है तो घरेलू बाजार में तथा विदेशी व्यापार में उसका लेनदेन होता है जिससे सरकार को प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष कर काफी मात्रा में प्राप्त होता है। भारत में कृषि व कृषि आधारित उद्योगों से आर्थिक विकास में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्नः

1. भारत में कितने प्रतिशत आबादी कृषि पर निर्भर है?

(अ) 50 प्रतिशत (ब) 90 प्रतिशत
(स) 70 प्रतिशत (द) 30 प्रतिशत

2. किस नदी पर शोध द्वारा प्रमाणित हुआ है कि प्राचीन काल से ही भारत में एक साथ दो फसलें उगाई जाती थी ?

(अ) गंगा (ब) यमुना
(स) कावेरी (द) सरस्वती

3. अथर्ववेद में जानकारी दी गई है–

(अ) पादप अंकुरण (ब) पादप वृद्धि
(स) सिंचाई (द) पादप सुरक्षा

4. कृषि उपकरण एवं मौसम पूर्वानुमान का उल्लेख किस प्राचीन ग्रन्थ में किया गया है?

(अ) ऋग्वेद (ब) अथर्ववेद
(स) वृक्षायुर्वेद (द) वाराहमिहिर

5. भारत में कृषि का इतिहास पुस्तक के लेखक कौन थे?

(अ) डॉ. बी. पी. पाल
(ब) डॉ. एम.एस. स्वामीनाथन
(स) डॉ. एम. एस. रंधावा
(द) डॉ. वर्गीस कुरियन

6. फिप्स प्रयोगशाला की स्थापना बिहार में कब की गई?

(अ) 1904 (ब) 1911
(स) 1936 (द) 1929

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्नः

7. कृषि द्वारा किन दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है?

8. कृषि उपज के अवशेष किन प्राचीन सभ्याताओं के अवशेषों से प्राप्त हुये है?

9. बौने गेहूँ का जनक किसे कहा जाता है?

10. भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान (ICAR) की स्थापना कब हुई।

11. हरित क्रांति का सूत्रपात कब हुआ ?

12. भारत में हरित क्रांति के जनक कौन थे ?

लघूत्तरात्मक प्रश्नः

13. किस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि हजारों वर्षो पूर्व भारत में खेती की उपज का अस्तित्व था ?

14. कृषि विज्ञान की परिभाषा लिखिए ?

15. शस्य विज्ञान किसे कहते है ?

16. कीट विज्ञान से आप क्या समझते है ?

निबन्धात्मक प्रश्न

17. भारतीय कृषि के महत्व का वर्णन विस्तारपूर्वक कीजिए।

18. प्राचीन भारतीय ग्रन्थों द्वारा कृषि विकास के ज्ञान की पुष्टि कैसे की जा सकती है? समझाइये।

19. आधुनिक भारत में कृषि विज्ञान के क्षेत्र क्या है? सविस्तार बताइए।

उत्तरमाला

1. (स), 2. (द), 3. (द), 4. (द), 5. (स), 6. (अ)

अध्याय–2
मौसम एवं जलवायु
(Weather & Climate)

पौधो और मानव जीवन पर भौतिक पर्यावरण के जिन तत्वों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है, उनमे जलवायु प्रमुख है। जलवायु और मौसम हमारे भौतिक पर्यावरण के गतिशील रूप है और मानव जीवन की लगभग प्रत्येक गतिविधि को प्रभावित करते है। मनुष्य की आर्थिक स्थिति, उद्योग, व्यापार, मानसिक स्वास्थ्य, सभ्यता भी जलवायु से प्रभावित होती है। विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले निवासियों की वेशभूषा, रहन – सहन, खान – पान आदि में जो अन्तर परिलक्षित होता है उसका मूल कारण जलवायु ही है।

प्रसिद्ध जलवायु विज्ञानवेता (Climatologist) और पाश्चात्य विचारक **केन्ड्रयू** (Candrew) ने जलवायु की महत्ता के विषय में कहा है कि, **"जीवन को नियंत्रित करने वाले सभी तत्वों में जलवायु आधारभूत एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है।"**

पौधे की प्रत्येक वृद्धि अवस्था प्रचलित मौसम परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होती है। प्रत्येक फसल इष्टतम मौसम परिस्थितियों में अपनी सम्पूर्ण उपज क्षमता दर्शाती है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि फसलों पर लगने वाले रोग एवं कीटों का प्रकोप प्रचलित मौसम से सम्बन्धित होता है। अतः फसलों की वृद्धि एवं उपज पर मौसम के विभिन्न मापदण्डो के प्रभाव की जानकारी सफलतम फसल उत्पादन के लिए आवश्यक है।

सामान्य बोलचाल की भाषा में मौसम एवं जलवायु एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते है किन्तु वास्तव में दोनो के अर्थ भिन्न – भिन्न होते है।

मौसम (Weather):-

सामान्यतः वायुमण्डल की तात्क्षणिक अवस्था मौसम कहलाती है। सौर ऊर्जा के वितरण में विभिन्नताओं में साम्य स्थापित करने वाली प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप मौसम का निर्माण होता है। अतः मौसम वायुमण्डल की दैनिक अवस्था है और ऊष्मा, नमी तथा वायु गति की अवस्थाओं में लघु अवधि परिवर्तनो से सम्बन्धित है।

किसी क्षेत्र विशेष में नियत समय पर वायुमण्डल की अवस्था जो तापमान, दाब, हवा, नमी, बादलों की स्थिति, वर्षण तथा दृश्यता में वायुमण्डल के लघु अवधि परिवर्तनों को सूचित करती है, मौसम कहलाती है। मौसम अत्यधिक परिवर्तनशील है। यह निरन्तर बदलता रहता है, कभी – कभी प्रत्येक घण्टे और कभी – कभी प्रत्येक दिन।

प्रसिद्ध जलवायुविज्ञानवेता **ट्रिवार्था** (Trewartha) के अनुसार **"किसी स्थान की अल्पकालिक वायुमण्डलीय दशाओ यथा तापक्रम, वायुदाब, आर्द्रता, वर्षा के योग को मौसम कहते है।"** सामान्यतः इसको अच्छा (Fine), साफ (Fair), धुंधला (Foggy), मेघयुक्त (Cloudy), बरसाती/वृष्टिमान (Rainy), उजला (Sunny) अथवा तूफानी (Windy) मौसम जैसे शब्दों से व्यक्त करते है।

कृषि मौसम विज्ञान (Agrometeorology):-

यह मौसम विज्ञान की शाखा है जिसमे पौधों एवं पशुओं के भौतिक पर्यावरण से सम्बन्ध का अन्वेषण किया जाता है। फसलों, घासों, वृक्षों, पशुओं, कीटों एवं व्याधियों के वायुमण्डल के साथ परस्पर क्रिया से सम्बन्धित विज्ञान , कृषि मौसम विज्ञान कहलाती है।

जलवायु (Climate):-

Climate शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द **क्लाईमा** (Klima) से हुई। सामान्यतः यह दो शब्दों, जल एवं वायु के समावेश से बना है। जल से तात्पर्य वुायमण्डल की आर्द्रता, वर्षा से है और वायु की गति, दिशा, तापक्रम आदि व्यवस्थाओं का वायु से सम्बन्ध है। अतः किसी भी स्थान की जल एवं वायु की सामूहिक स्थिति जलवायु है। **ट्रिवार्था** (Trewartha) के शब्दों में "दिन – प्रतिदिन के मौसम की विविधता का समन्वय अथवा सामान्यीकरण जलवायु कहलाता है।" अन्य शब्दों में दीर्घ अवधि में वृहद क्षेत्र के मौसम की समग्रता को जलवायु कहते है। जलवायु शब्द किसी क्षेत्र के औसत मौसम को इंगित करता है तथा इसमे औसत से सामान्य विचलन और चरम परिस्थितियों का समावेश भी रहता है। इस तरह से हम कह सकते है कि किसी विशेष समयान्तराल (कई दशक) के दौरान किसी क्षेत्र विशेष की सांख्यकीय मौसम सूचनाओं के कुल योग को जलवायु कहते है।

उपरोक्त से स्पष्ट होता है कि जलवायु विज्ञान में वायुमण्डलीय दशाओं के प्रादेशिक वितरण का विश्लेषण किया जाता है। जलवायु का निर्माण कुछ दिनों या कुछ वर्षो का योग नहीं बल्कि जिनेवा (स्विट्जरलैण्ड) स्थित विश्व मौसम विज्ञान

संगठन (World Meteorology Organization) ने जलवायु के लिए 31 वर्षो की अवधि के मौसम के औसत को उपयुक्त समझा है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जलवायु अनेक वर्षों के औसत मौसम को प्रकट करती है जिस प्रकार किसी वर्ष विशेष में बीकानेर या जैसलमेर में अधिक वर्षा होने पर वहाँ की जलवायु तो शुष्क ही कहलायेगी परन्तु अवधि विशेष के मौसम को जरूर आर्द्र कह सकते है।

कृषि जलवायु विज्ञान (Agroclimatology):-

वह विज्ञान जिसमें कृषि से प्रत्यक्ष प्रासंगिकता रखने वाले जलवायु विज्ञान के पहलुओं का अध्ययन किया जाता है, कृषि जलवायु विज्ञान कहलाती है। इसमें मृदा, वायुमण्डल व पादप वृद्धि के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है। इसमे जलवायुवीय व्यवस्थाओं का कृषि उत्पादन के साथ सम्बन्ध का परीक्षण किया जाता है।

अतः स्पष्ट है कि मौसम नियत स्थान पर निश्चित समय में वायुमण्डल की दशा एवं उसकी विशेषताओं को प्रदर्शित करता है जबकि जलवायु वृहत्तर क्षेत्र के लिए दीर्घ अवधि के मौसम की दशाओं की सम्पूर्णताओं को दर्शाती है। जलवाुय में किसी स्थान विशेष के औसत मौसम के साथ–साथ मौसम तत्वों की परिवर्तनशीलता भी सम्मिलित है।

मौसम एवं जलवायु के तत्व एवं फसलों पर प्रभाव :

जैसा कि हम जानते है मौसम, किसी दिए हुए स्थान पर किसी समय विशेष के लिए वायुमण्डल की स्थिति को दर्शाता है। किसी निश्चित स्थान और समय पर जलवायु और मौसम में होने वाले परिवर्तनों को जानने के लिए वायुमण्डल की उन दशाओं का प्रेक्षण एवं मापन जरूरी है जिनके कारण ये परिवर्तन होते है। वायुमण्डल की वे दशाएँ और भौतिक विशेषतायें जिन्हे मौसम में होने वाले परिवर्तनों को जानने के लिए मापन हेतु काम में लिया जाता है, उन्हें मौसम एवं जलवायु के तत्व कहते है। ये निम्न प्रकार से है :–

(1) सौर विकिरण (Solar Radiation)
(2) तापमान (Temperature)
(3) वायुमण्डलीय आर्द्रता (Atmospheric Humidity)
(4) वायुमण्डलीय दाब (Atmospheric Pressure)
(5) वायु (Winds)
(6) वर्षण (Precipitation)
(7) बादल (Clouds)

मौसम एवं जलवायु में अन्तर होते हुए भी दोनो का निर्माण इन्हीं तत्वों द्वारा होता है। यें तत्व प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पौधों की वृद्धि को प्रभावित करते है।

1. सौर विकिरण (Solar Radiation)

पृथ्वी द्वारा प्राप्त होने वाली लगभग सम्पूर्ण ऊर्जा, सूर्य द्वारा प्रदान की जाती है। वायुमण्डल में होने वाली समस्त भौतिक क्रियाए भी सौर विकिरण द्वारा प्राप्त ऊर्जा से संचालित होती है। विकिरण की क्रिया द्वारा सूर्य से पृथ्वी पर जो ऊर्जा प्राप्त होती है उसे 'आतपन' या सूर्याताप (Insolation) कहते है। प्रकाश संश्लेषण, वाष्पन, मृदा एवं वायु का गर्म होना आदि प्रक्रियाएँ भी इस ऊर्जा द्वारा उत्पन्न होती है।

(अ) प्रकाश की गुणवता (Quality of Light) :-

प्रकाश में उपस्थित पराबैंगनी किरणें, जो पृथ्वी तक पहुँचती है, पौधों द्वारा सहन कर ली जाती है तथा इनके प्रभाव से पादप कोशिकाएँ छोटी रह जाती है इनकी वृद्धि रूक जाती है। ये किरणे बीज अंकुरण एवं इनके प्रभावी विकास को भी प्रभावित कर सकती है। अनाज वाले पौधों में फुटान (Tillers) के निर्माण, पत्तियों के आकार, जड़ विकास भी प्रकाश से प्रभावित होते है। प्रकाश की लाल रंग की किरणें प्रकाश संश्लेषण एवं अंकुरण क्रिया को सर्वाधिक प्रोन्नत करती है तथा दीर्घकरण को रोकती है। हरी, नीली विकिरण भी बीज अंकुरण क्रिया में अवरोध उत्पन्न करती है।

(ब) प्रकाश की तीव्रता (Intensity of Light):-

इससे अभिप्राय प्रकाश की मात्रा या चमक से है, जो प्रकाश संश्लेषण के माध्यम से पादप वृद्धि को प्रभावित करती है। अधिकतम प्रकाश तीव्रता जहाँ पर पौधे की श्वसन दर एवं प्रकाश

तालिका– मौसम और जलवायु में अन्तर को स्पष्ट किया जा सकता है :–

मौसम (Weather)	जलवायु (Climate)
1. यह किसी स्थान विशेष पर वायुमण्डल की दैनिक अवस्था से सम्बन्धित है।	1. यह वृहद क्षेत्र की दीर्घ अवधि के मौसम की औसत स्थिति से सम्बन्धित है।
2. यह हमेशा परिवर्तनशील है जो वायुमण्डलीय परिस्थिति के साथ बदलता रहता है।	2. यह लगभग स्थायी है और क्षेत्र के साथ बदलता है।
3. यह जलवायु की इकाई है।	3. यह विभिन्न प्रकार के मौसमों का सम्मिलित रूप है।
4. एक दिन में कई प्रकार का मौसम हो सकता है।	4. जलवायु एक ही प्रकार की बनी रहती है। दीर्घ अवधि के साथ परिवर्तन आ सकता है।
5. यह जलवायु का विभेदीकरण है।	5. यह मौसम का एकीकरण है।

संश्लेषण दर समान रहती है, प्रकाश क्षतिपूर्ति बिन्दु कहलाती है। अधिक तापमान पर यह बिन्दु भी अधिक होता है।

(स) प्रकाश की अवधि (Duration of Light):- फसल विकास की प्रक्रियाएँ जैसे पर्ण उत्पादन दर, पुष्पन, फलन आदि दिन की लम्बाई या प्रकाश अवधि से भी प्रभावित होती है। दिन में प्रकाश की अवधि (Photoperiodism) तथा रात में अंधकार की अवधि कई फसलों/पौधों में पुष्पन के समय को प्रभावित करती है। पौधों की दिन के प्रकाश की अवधि के प्रति इस अनुक्रिया को प्रदीप्तिकालिता (Photoperiodism) कहते है। इस आधार पर पौधों को चार वर्गों में विभक्त करते है।

(i) लघु दिवस या अल्प प्रकाशापेक्षी पौधे (Short day plant):-

पौधों में पुष्पन के लिए दिन के प्रकाश एवं रात्रि के अंधकार की एक विशेष लम्बाई आवश्यक होती है जिसे क्रांतिक दिवस अवधि (Critical day length) कहते है। लघु दिवस पौधे वे पौधे होते है जिनसे पुष्पन की प्रक्रिया शुरू होने के लिए दिन की अवधि तुलनात्मक रुप से कम (<10 घण्टे) की आवश्यकता होती है, अधिक प्रकाश की अवधि मिलने पर पौधों में कायिक वृद्धि (Vegetative growth) अधिक होने लगती है और पुष्पन का समय स्थगित हो जाता है। अधिकांश उष्ण कटिबन्धीय पौधे (Tropical plants) जैसे – धान, ज्वार, मक्का, बाजरा, सोयाबीन, मूंग आदि लघु दिवस पौधे कहलाते है।

(ii) दीर्घ दिवस या दीर्घ प्रकाशापेक्षी पौधे (Long day plant):-

इन पौधों को पुष्पन की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के लिए तुलनात्मक रूप से दीर्घ अवधि (>14 घण्टे) की आवश्यकता होती है। इन पौधों को भी जब कम प्रकाश अवधि वाले दिन मिलते है तो पुष्पन को स्थगित करके कायिक वृद्धि अधिक कर लेते है। मुख्यत: शीतकटिबन्धीय पौधे (Temperate plants) जैसे – गेहूँ, जौ, जई, आलू, चुकन्दर आदि इस वर्ग में आते है।

(iii) मध्यवर्ती प्रदीप्ति कालिक पौधे (Intermediate day plants):-

इस श्रेणी के पौधों में पुष्पन की प्रक्रिया एक निश्चित प्रकाश की अवधि (12–14 घण्टे) प्राप्त होने पर ही होता है। इससे कम होने पर नहीं होता है। जैसे – गन्ने में 12 से कम या 14 ये अधिक घण्टे की प्रकाश अवधि प्राप्त होने पर पुष्पन की प्रक्रिया (Arrowing) प्रारम्भ नहीं होती है। इसी कारण से गन्ने में किस्म विकास के कार्य करने लिए गन्ना प्रजनन संस्थान (Sugarcane Breeding Institute) की स्थापना कोयम्बटूर (तमिलनाडु) में की गई जहाँ प्रकाश की अवधि 12 – 14 घण्टे के मध्य रहती है।

(iv) दिवस निष्प्रभावी पौधे (Day Neutral Plant):-

कुछ पौधों में पुष्पन की प्रक्रिया दिन के प्रकाश की अवधि से प्रभावित नहीं होती है अर्थात् पुष्पन पर प्रकाश की अवधि का प्रभाव नहीं पड़ता है, वे दिवस निष्प्रभावी पौधे कहलाते है। कपास, सूरजमुखी, Buckwheat, टमाटर, मटर, धान की कई किस्में आदि इस श्रेणी में आने वाले पौधे है।

2. वायुमण्डलीय तापमान (Atmospheric Temperature)

किसी पदार्थ की गर्मी और शीतलता जो इसकी आणविक गतिविधि के विस्तार द्वारा निर्धारित होती है और एक तापमापी द्वारा मापी जाती है, तापमान कहलाती है। वायुमण्डलीय तापमान का मुख्य स्रोत सूर्य विकिरण है। वायुमण्डल की बाहरी सीमा तक आने वाले सौर विकिरण लगभग समान होते है परन्तु पृथ्वी की सतह तक पहुँचने वाले विकिरण अत्यधिक परिवर्तनशील होते है और वायुमण्डल में बादलों की मात्रा पर निर्भर करते है।

इस प्रकार वायु गर्म होकर हल्की होने के कारण ऊपर उठती है, आस–पास एवं ऊँचाई की वुाय को गर्म करना शुरू करती है और वायुमण्डल का तापमान बढ़ने लगता है। इसी कारण से अधिकांशतः दिन का अधिकतम तापमान लगभग 2:00 बजे होता है जबकि सौर विकिरण दोपहर 12:00 बजे के आस–पास अधिकतम होती है। दिन में न्यूनतम तापमान सूर्य उदय के ठीक पहले होता है।

विभिन्न फसलों के लिए प्रधान वृद्धि तापमान

क्र.स.	प्रधान वृद्धि तापमान	तापमान (°C)	
		शीतकालीन फसलें	ग्रीष्मकालीन फसलें
1	न्यूनतम तापमान (Minimum Temperature) जिसके नीचे पौधों की जैविक क्रियाओं के लिए मिलने वाली आवश्यक ऊष्मा कम रहती है और उनकी वृद्धि रूक जाती है।	0–5	15–18
2	इष्टतम तापमान (Optimum Temperature) जैविक क्रियाओं की गति अधिकतम होती है।	25–30	30–38
3	अधिकतम तापमान (Maximum Temperature) जिसके ऊपर पौधों की वृद्धि रूक जाती है।	30–38	45–50

तापमान का कृषि पर प्रभाव

कृषि का प्रत्येक कार्य तापक्रम से प्रभावित होता है। कृषि में बीज अंकुरण से लेकर फसल कटाई, गहाई, औसाई एवं भण्डारण तक उचित तापक्रम की आवश्यकता होती है। प्रत्येक फसल/पौधे की वृद्धि एवं विकास के लिए एक निश्चित तापमान परास (Temperature range) होती है। न्यूनतम से कम और अधिकतम से अधिक तापमान होते ही फसलों की वृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। न्यनतम और अधिकतम तापमान के मध्य तापमान जिस पर पौधों की वृद्धि अधिकतम होती है, इष्टतम तापमान (optimum temperature) कहते है। इन न्यूनतम, इष्टतम व अधिकतम तापमान बिन्दुओं को प्रधान/आधारभूत वृद्धि बिन्दू (cardinal growth point) कहते है।

वायुमण्डलीय तापमान निम्न प्रकार से पौधों की वृद्धि को प्रभावित करता है :–

1. **जैविक क्रियाएँ** : सामान्यतः एक निश्चित सीमा तक तापमान बढ़ने के साथ जैविक क्रियाओं की गति भी बढ़ती है और इन परास में तापमान में प्रति 10°C की बढ़ोत्तरी के साथ जैविक क्रियाओं की गति दोगुनी या अधिक हो जाती है, इसे तापमान गुणांक (Temperature Quotient/ Q10) कहते है। एक सीमा बाद (तापमान बढ़ने के साथ वृद्धि क्रियाओं की) गति कम होने लगती है।

2- **CO_2 उद्ग्रहण (Uptake of CO_2)** : एक निश्चित सीमा तक तापमान के साथ CO_2 उद्ग्रहण बढ़ता है तत्पश्चात् तापमान बढ़ने पर यह कम होने लगता है। पौधों द्वारा अधिक तापमान पर पर्ण रन्ध्रों और पर्ण मध्यक (Mesophyll) के प्रतिरोध के कारण CO_2 उद्ग्रहण कम होने लगता है।

3. **किण्वक क्रियाएँ (Enzyme activities)** : कार्बन यौगिकों के अपघटन में महत्वपूर्ण किण्वकों (enzymes) की सक्रियता तापमान बढ़ने के साथ बढ़ती है।

4. **प्रकाश संश्लेषण की दर (Rate of Photosynthesis) :-** एक निश्चित सीमा तक तापमान बढ़ने के साथ – साथ प्रकाश संश्लेषण की दर में वद्धि होती है। 30°C से अधिक तापमान पर अपर्याप्त CO_2 के कारण प्रकाश संश्लेषण की दर कम होने लगती है। जबकि अधिकतम तापमान के साथ पौधों द्वारा श्वसन की दर बढ़ती रहती है, इस प्रकार शुद्ध प्रकाश संश्लेषण (Net Photosynthesis) प्रभावित होती है और फसल का उत्पादन कम होता है।

5. **प्रकाश संश्लेषण संरचना का विकास :-** पर्णहरित (Chlorophyll) बनने एवं पर्ण क्षेत्र (Leaf area) के विकास में तापमान का महत्वपूर्ण योगदान है। उचित तापमान क्लोरोप्लास्ट के निर्माण को बढ़ाता है। कम तापमान में पर्णहरित के विघटन के कारण पत्तियां पीली पड़ जाती है।

6. **वृद्धि तत्वों (Growth Substances) पर प्रभाव :-** इष्टतम तापमान पर आक्सीन, जिब्बरेलिन्स, सायटोकायनिन की सक्रियता अधिक तथा एब्सिसिक अम्ल (Abscisic Acid) की सक्रियता कम रहती है परिणामस्वरूप पौधो की वृद्धि दर बढ़ती है। इष्टतम से अधिक और कम तापमान पर वृद्धि तत्वों का संतुलन बदलता है जो वृद्धि को प्रभावित करता है। जिब्बरेलिक अम्ल के प्रयोग से अधिक तापमान के बाधाकारी प्रभाव दूर होकर वृद्धि दर बढ़ती है।

7. **विकास पर प्रभाव :-** पौधों की विकास दर जैसे अंकुरण (germination),पर्ण शुरूआत (Leaf Initiation), फुटान (tillering), पुष्पन (Flowering), बाल निकलना (Ear Emergence) और दाना भरने (Grain Filling), पर तापमान का वृहत्तर प्रभाव रहता है। कम तापमान पर अंकुरण में इष्टतम तापमान की तुलना में अधिक समय लगता है। खरीफ फसलों में अंकुरण हेतु 28° C से 35°C तापमान अनुकूल रहता है। बहुत अधिक या बहुत कम तापमान पर कुछ पौधों में अंकुरण नहीं होता हैं। गेहूँ में कल्ले फूटने की अवस्था पर 16°C-20°C तापमान उपयुक्त रहता है। इससे अधिक तापमान फुटान की प्रक्रिया पर विपरीत प्रभाव डालता है।

8. **कीट एवं रोगो का प्रकोप :-** पौधों की सस्य वृद्धिकाल में अनुकूल तापमान रहने व तेज धूप के प्रभाव से फसलों पर रोग एवं कीटों का आक्रमण न्यूनतम रहता है।

3. वायुमण्डलीय आर्द्रता :–

सामान्यतः वायुमण्डल में उपस्थित जल वाष्प को वायुमण्डलीय आर्द्रता कहते हैं। वायुमण्डल में इसका मुख्य स्रोत मृदा सतहों और जल निकायों (महासागर, नदियों, झीलों आदि) से वाष्पन (Evoporation) द्वारा तथा वनस्पतियों से स्वेदन (Transpiration) द्वारा प्राप्त नमी होता है।

वायुमण्डल में उपस्थित आर्द्रता को निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है :–

(i) <u>निरपेक्ष आर्द्रता</u> (Absolute Humidity)

वायुमण्डल के निश्चित आयतन में उपस्थित आर्द्रता की मात्रा को निरपेक्ष आर्द्रता कहते है। इसे ग्राम/घन सेमी., ग्राम/घन मी. या ग्राम/घन फीट में दर्शाया जाता है। इसके द्वारा वायु की वास्तविक आर्द्रता प्रदर्शित की जाती है। यह तापमान के साथ परिवर्तित होती है।

(ii) <u>सापेक्ष/आपेक्षिक आर्द्रता</u> (Relative Humidity, RH)

वायुमण्डल की आर्द्रता को दर्शाने की यह एक सामान्य और प्रचलित प्रायोगिक विधि है। किसी निश्चित तापमान पर वायु

में उपस्थित आर्द्रता (निरपेक्ष आर्द्रता) तथा उसी ताप पर वायु की आर्द्रता ग्रहण करने की क्षमता के साथ अनुपात को आपेक्षिक आर्द्रता कहते है। इसकी इकाई प्रतिशत है और इसे निम्नानुसार दर्शाया जाता है।

आपेक्षिक आर्द्रता (%) =

$$\frac{\text{वायु में उपस्थित जलवाष्प की मात्रा}}{\text{वायु की आर्द्रता ग्रहण करने की क्षमता}} \times 100$$

अर्थात

आपेक्षिक आर्द्रता (%) =

$$\frac{\text{वास्तविक वाष्प दाब}}{\text{संतृप्त दाब}} \times 100$$

सापेक्ष आर्द्रता का मौसम विज्ञान में महत्वपूर्ण स्थान है। मौसम भविष्यवाणी में काम आने वाला मौसम का यह एक महत्वपूर्ण मापदण्ड है। इसकी मात्रा के निर्धारण से वर्षा की संभावना व्यक्त की जा सकती है। किसी निश्चित तापक्रम पर वायु की आर्द्रता क्षमता का निरपेक्ष आर्द्रता के साथ विपरीत सम्बन्ध होता है। सामान्य से बहुत अधिक या बहुत कम सापेक्ष आर्द्रता मानव जीवन के लिए हानिकारक होती है।

आपेक्षिक आर्द्रता का फसलों पर प्रभाव :–

आपेक्षिक आर्द्रता प्रत्यक्ष रूप से पौधें के जल सम्बन्धों को और अप्रत्यक्ष तौर पर पर्ण वृद्धि प्रकाश संश्लेषण, परागण (Pollination) पोषक तत्वों के उद्ग्रहण (Uptake) व स्थानान्तरण (Translocation), कीट व रोगों के प्रकोप और अंतिम रूप से आर्थिक उपज को प्रभावित करती है।

(i) **जल सम्बन्ध (Water Relations) :–** आपेक्षिक आर्द्रता पौधों की वाष्पोत्सर्जन (Evapotranspiration) क्रिया को प्रभावित करती है। शुष्क क्षेत्रों में आपेक्षिक आर्द्रता की कमी के कारण पौधों से वाष्पोत्सर्जन अधिक होता है।

(ii) **पर्ण वृद्धि (Leaf growth):–** अधिक आपेक्षिक आर्द्रता के कारण कोशिकाओं का स्फीत दाब (Turgor pressure) अधिक रहता है, कोशिकाओं का आकार बढ़ता है और वाष्पोत्सर्जन द्वारा जल का ह्रास कम होता है। अतः आर्द्र (Humid) क्षेत्रों में शुष्क (Arid) क्षेत्रों की तुलना में पौधे की पत्तियों का आकार अधिक रहता है।

(iii) **प्रकाश संश्लेषण (Photosynthesis) :–** जब शुष्क क्षेत्रों में आपेक्षिक आर्द्रता कम होती है वाष्पोत्सर्जन की क्रिया द्वारा जल का ह्रास अधिक होता है और पौधों में जल की कमी हो जाती है।

(iv) **परागण (Pollination) :–** यदि मृदा नमी पर्याप्त हो तो औसत रूप से कम आपेक्षिक आर्द्रता परागण को बढ़ाकर बीज जमाव (Seed Setting) को बढ़ाती है। उदाहरणार्थ 80% की तुलना में 60% आपेक्षिक आर्द्रता पर गेहूँ में बीज जमाव अधिक होता है। जब वायुमण्डल में आपेक्षिक आर्द्रता अधिक होती है तो पराग कोष से पराग कण कम बिखरते (shattering of pollens) है।

(v) **पोषक तत्वो का उद्ग्रहण एवं स्थानान्तरण (Uptake & translocation of nutrients) :–** अधिक वायुमण्डलीय आपेक्षिक आर्द्रता वाष्पोत्सर्जन की क्रिया को कम करती है, जो पोषक तत्वों के उद्ग्रहण (Uptake) को प्रभावित करती है।

(vi) **कीट एवं रोगों का प्रकोप (Pest & disease incidence) :–** अधिक आपेक्षिक आर्द्रता इनके प्रकोप को बढ़ाती है। अधिक आपेक्षिक आर्द्रता के कारण पौधों का रसीलापन (Succulency) बढ़ता है साथ ही कवक के बीजाणुओ का अंकुरण भी बढ़ता है। उदाहरणार्थ आलू एवं चाय का झुलसा रोग (blight), मोयला (Aphid) व हरा तेला (Jassid) का पर्याक्रमण (Infestation) अधिक आर्द्रता की परिस्थितियों में बढ़ता है।

(vii) **उपज :–** बहुत अधिक या बहुत कम आपेक्षिक आर्द्रता पौधों की वृद्धि के लिए अनुकूल नहीं होती है। उपज के साथ आर्द्रता का ऋणात्मक सहसम्बन्ध होता है अधिक आर्द्रता से परागण कम होता है और कीट एवं रोगों के प्रकोप को बढ़ाता है।

जल वाष्प का संघनन (Condensation of water vapour)

वायुमण्डल में उपस्थित जल वाष्प (गैसीय अवस्था) का जल (तरल अवस्था) में परिवर्तन होना संघनन(condensation) कहलाता है। यह जल के अवस्था परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जो वाष्पीकरण (Evaporation) प्रक्रिया के विपरीत होती है। संघनन की प्रक्रिया वायुमण्डल में निहित सापेक्ष आर्द्रता पर निर्भर करती है। जब वायु में सापेक्ष आर्द्रता 100% होती है उस वायु को संतृप्त वायु (Saturated air) कहते है।

(अ) ओस (Dew) :– ''धरातल के निकटवर्ती वायुमण्डल में उपस्थित जलवाष्प के प्रत्यक्ष संघनन द्वारा मुख्यतः रात्रिकाल के विकिरण द्वारा शीतल हुए धरातल पर संचित जल की बूंदों को ओस कहते है।'' ओस से पौधों एवं भूमि को नमी मिलती है। अक्टूबर माह में इस नमी द्वारा दिन में खेत में जुताई करके प्रातः सूर्योदय से पूर्व पाटा लगा देते है जिससे नमी संरक्षित होती है। अधिक ओस वाले क्षेत्रों में रबी में सरसों एंव चने की बारानी फसल सफलतापूर्वक ली जाती है।

(ब) कोहरा (Fog) :– धरातल के समीपवर्ती भागों में जलवाष्प युक्त वायु का तापमान जब ओसांक (Dew point) पर पहुँच जाता है तो वायु और अधिक शीतल हो जाती है जिससे जलवाष्प

वायुमण्डल में उपस्थित धूल कणों (Dust particles) के चारों ओर छोटे–छोटे जल कणों के रूप में एकत्र हो जाती है। ये जल कण हल्के होने के कारण वायु में ही निलम्बन की अवस्था में रहते है तथा उनका समूह धुएं के बादल के रूप में दिखलाई पड़ता है, संघनन के इस स्वरूप को कोहरा कहते है। प्राकृतिक वनस्पति और बारानी फसलों के लिए कोहरा नमी के स्रोत के रूप में लाभदायक भी हो सकता है, परंतु लम्बें समय तक इसकी उपस्थिति चाय एवं कॉफी की फसलों को छोड़कर हानिकारक होती है। कोहरे के कारण फसलों को सूर्य का पर्याप्त प्रकाश नहीं मिल पाता है। प्रकाश संश्लेषण की क्रिया न होने पर पौधें भोजन नहीं बना पाते है और पीले पड़ जाते है।

(स) धुन्ध या कुहासा (Mist) :– यह कोहरे से कम घना होता है। अन्तर्राष्ट्रीय मौसम वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार जब जलकणों युक्त वायुमण्डल (कोहरे) की दृश्यता एक किलोमीटर से अधिक होती है तो उसे कुहासा, धुन्ध (Mist) या गीला धुन्ध (Damp haze) कहते है। यह उगते सूर्य के साथ ही लुप्त हो जाता है।

(द) धूम कोहरा (Smog) :– यह धुएं एवं कोहरें (Smoke + Fog) का मिश्रण है, जो अधिकांशतः शहरी और औद्योगिक क्षेत्रों के नजदीक दिखाई पड़ता है। वास्तव में यह एक वायु प्रदूषण का प्रकार है जो दृश्यता को कम करता है।

(य) पाला या तुषार (Frost) :– कभी – कभी धरातल पर स्थित घास पौधों की पत्तियों का तापमान 0 °C से कम हो जाता है, ऐसी परिस्थिति में जलवाष्प संघनन क्रिया के स्थान पर उर्ध्वापातन (Sublimation) क्रिया द्वारा, ओस के रूप में न बदलकर बर्फ के छोटे – छोटे कणों (हिमकणों) में परिवर्तित हो जाती है इसे ही पाला या तुषार कहते है।

शीतकाल में जिस दिन दोपहर से पहले ठण्डी हवा चलती रहे और सायंकाल के बाद हवा चलना बंद हो जाये, आसमान साफ हो, शांत एवं दीर्घ अवधि की रात्रि तथा जब तापमान जमाव बिन्दु (Freezing point) से नीचे हो, ऐसी परिस्थितियों में पाला पड़ने की संभावना अधिक रहती है।

वनस्पतियों के लिए पाला हमेशा हानिकारक होता है। पाले के कारण कोशिकाओं के मध्य का तरल जम जाता है तथा कोशिकाएँ निर्जलीकृत हो जाती है। कोशिकाओं का जीवद्रव्य जमाव बिन्दु के कारण जम जाता है। बर्फ का आयतन पानी की अपेक्षा अधिक होने के कारण कोशिका भित्ती फट जाती है, कोशिकाएँ मृत हो जाती है और संवेदनशील फसले एक रात में तबाह हो जाती है। उत्तरी एवं उत्तरी पश्चिमी भारत में दिसम्बर से जनवरी अंत तक पाला पड़ने की संभावना अधिक रहती है। रबी की अधिकांश फसले इस समय पुष्पन या फलियाँ बनने की अवस्था में होती है जो पाले से सबसे अधिक प्रभावित होती है। अरण्डी, तम्बाकू, टमाटर, जीरा, कपास, सौंफ आदि फसले तुलनात्मक रूप से पाले से अधिक प्रभावित होती है। जायांग पौधे का पाले के प्रति सर्वाधिक संवेदनशील अंग होता है।

पाले से बचने के उपाय :–

(1) **पाला रोधी फसले एवं किस्में :–** पाला पड़ने की संभावना वाले क्षेत्रों में पाला रोधी फसले एवं किस्में अपनाकर जैसे – सरसों, चना एवं टमाटर आदि के स्थान पर गेहूँ जौ, जई आदि फसलो की बुआई कर पाले के प्रकोप को कम किया जा सकता है। इसी प्रकार चने की पूसा 212, तोरिया की भवानी, आलू की कुफरी शीतमान, कुफरी देवा आदि पाला रोधी किस्में अपनाई जा सकती हैं।

(2) **हल्की सिंचाई द्वारा :–** पाला पड़ने की संभावना वाले दिनों में खेतों में हल्की सिंचाई करने से तापक्रम 0.5 से 2°C सेल्सियस तक बढ़ जाता है। खेत में पर्याप्त नमी होने से भी पाले से हानि की सम्भावना कम हो जाती है।

(3) **धुआँ करके :–** खेत में मेड़ों के आस – पास व्यर्थ घास–फूस, कूड़ा–करकट इकट्ठा करके जलाकर धुआँ करने से वातावरण में गर्मी आ जाती है। अच्छा धुआँ करने के लिए अन्य वस्तुओं के साथ वाहनों के जले हुए तेल (Crude Oil) का प्रयोग करके पाले के प्रतिकूल प्रभाव से फसलों को बचा सकते है।

(4) **गन्धक के अम्ल का छिड़काव :–** पाला पड़ने की संभावना वाली परिस्थितियों में 0.1% (1000 लीटर पानी में 1 लीटर गन्धक का अम्ल) गन्धक के अम्ल का छिड़काव गेहूँ, सरसों, जीरा, मटर आदि फसलों को पाले से बचानें के साथ – साथ पौधों में गन्धक तथा लौह तत्व की उपलब्धता बढ़ाकर इन फसलों में रोग रोधित(Disease Resistance) भी बढ़ाता है।

(5) **छाया करके (Shading) :–** छोटे पौधे विशेषकर नर्सरी के पौधों तथा वर्षा के मौसम में लगाये गये नये व छोटे फलदार पौधों को टाट या पॉलीथीन से ढककर पाले से बचाया जा सकता है।

(6) **बुआई के समय का समायोजन करके :–** आलू, चना, मटर, सरसों आदि फसलों का बुआई के समय इस प्रकार समायोजित करे कि पाला पड़ने की अधिक संभावना वाले समय (मध्य दिसम्बर से जनवरी) तक फसलों में निषेचन होकर फलिया बन जाये। वातावरण / तापमान की अनुकूलता के अनुसार अक्टूबर के प्रारम्भ से बुआई करके इन फसलों को पाले से बचाया जा सकता है।

4. मेघ या बादल (Clouds) :–

मेघ या बादल जलवायु का महत्वपूर्ण घटक है क्योंकि वर्षा की मात्रा इन्हीं के द्वारा निर्धारित होती है। प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष

तौर पर आपेक्षिक आर्द्रता, तापमान के उतार–चढ़ाव, सूर्य के प्रकाश की अवधि भी बादलों की उपस्थिति से निर्धारित होती है। जैसा कि पूर्व में वर्णित है, संघनन की प्रक्रिया धरातल के पास और क्षोभमण्डल में होती है। अतः धरातल से विभिन्न ऊँचाइयों पर जलवाष्प के संघनन के परिणामस्वरूप निर्मित जल कणों या हिम कणों के समूह को मेघ कहते है।

मेघों के मुख्यतः तीन आधारभूत स्वरूप होते है, जो निम्न प्रकार से है :–

(i) तीतर पंखी या पक्षाभ मेघ (Cirrus Clouds) :– वायुमण्डल मे सर्वाधिक ऊँचाई पर पाये जाते है और बर्फ के कणों से निर्मित होने से श्वेत रंग के होते है। आकाश में पक्षियों के पंखों की भांति (Feathery or Fibrous) दिखाई देते है। ये स्वयं वर्षा नहीं करते है परन्तु कुछ निचाई पर आने के बाद दूसरें बादलों में परिवर्तित होकर वर्षा करते है।

(ii) कपासी या पुंज मेघ (Cumulus Clouds) :– इन मेघों का विकास लम्बवत् रूप में होता है और आकाश में धुनी हुई रूई के ढेर के समान दिखाई देते है। इनका ऊपरी भाग गुम्बदाकार तथा फूल गोभी जैसा होता है। इनका रंग काला तथा चमकीला होता है। इनसे स्वच्छ मौसम का आभास मिलता है। ये बादल गर्जन अधिक करते है। अगर ये सायं से रात तक बने रहते है तो इनसे वर्षा होने की संभावना भी रहती है।

(iii) स्तरी मेघ (Stratus Clouds):– ये मेघ निम्न ऊँचाई वाले मेघ होते है। ये कई परतों वाले होते है। इनका निर्माण विपरीत स्वभाव वाली दो वायु राशियों(Air masses) के टकराव से होता है। ये कोहरे की भांति दिखलाई पड़ते है और सम्पूर्ण आकाश पर छा जाते है। इनसे हल्की वर्षा या फुहारे पड़ने की संभावना रहती है।

मेघ एवं कोहरे में अन्तर :–

कोहरें एवं मेघों की निर्माण प्रक्रिया एक होने के कारण भौतिक दृष्टिकोण से इनमें कोई अन्तर नहीं है परन्तु निर्माण स्थल की भिन्नता के कारण इनमें निम्न विभेद पाये जाते है –

बादल निरन्तर छाये रहे और इनसे वर्षा न हो तो फसलों पर इनका प्रतिकूल प्रभाव भी पड़ता है :–

(i) यदि जनवरी माह में मावट के बाद बादल छाये रहे तो फसलों में कीट रोगों का प्रकोप बढ़ता है। गेहूँ में गेरूई, (Brown rust) सरसों में सफेद रोली(White rust) रोग का प्रकोप बढ़ जाता है।

(ii) पकाव के समय आकाश लम्बे समय तक मेघाच्छादित रहे तो फसले देर से पकती है, उत्पादन लागत बढ़ जाती है।

(iii) दानों में नमी बनी रहती है, मड़ाई, औसाई व भण्डारण में कठिनाई रहती हैं। भण्डारण में भी कीट एवं कवक संक्रमण की संभावना रहती है।

बुआई के बाद आकाश साफ रहने से अंकुरण शीघ्र होने के साथ – साथ शुरूआती बढ़वार भी अच्छी होती है। दाना बनते समय स्वच्छ आकाश रहने से दाने अच्छे पकते है, स्वच्छ, सुडौल व मोटे आकार के होते है और उपज भी अधिक होती है।

5. वर्षण (Precipitation) :–

वायुमण्डल में संघनन की प्रक्रिया के फलस्वरूप निर्मित जल की बूंदे या हिम कण जो अधिक बढ़े होने के कारण वायुमण्डल में निलम्बित नहीं रह पाते है और धरातल पर गिरने लगती है। इस प्रकार वायुमण्डल से जब तरल या ठोस जल धरातल पर गिरता है, इसे वृष्टि या वर्षण कहते है।

वर्षा के अनुकूल प्रभाव :–

1. जून के अंतिम सप्ताह अथवा जुलाई के प्रथम सप्ताह में वर्षा हो जाने पर खरीफ की फसलों की बुआई समय पर हो जाती है। फसल की वृद्धि भी अच्छी होती है।

मेघ	कोहरा
(i) निर्माण अधिक ऊँचाई पर होता है।	(i) धरातल के सम्पर्क वाली वायु राशि में निर्माण होता है।
(ii) इनसे वर्षा होती है।	(ii) वर्षा नहीं होती है।
(iii) जलकणों की मोटाई अधिक होती है।	(iii) जलकणों की मोटाई कम होती है।
(iv) मेघों का निर्माण केवल संघनन प्रक्रिया द्वारा ही होता है।	(iv) विपरीत जल राशियों के सम्मिलन से भी कोहरे का निर्माण हो सकता है।
(v) मेघ उर्ध्वाधर दृश्यता (Vertical Visibility) को प्रभावित करते है।	(v) कोहरा क्षैतिज दृश्यता (Horizontal Visibility) को प्रभावित करता है

2. बुआई के समय वर्षा होने के बाद कई दिन तक मौसम साफ रहने से बीजों का अंकुरण तेजी से होता है।
3. जब फसल का वृद्धि काल चल रहा हो 10 – 15 दिन के अंतर पर वर्षा फसलों के लिए अच्छी रहती है। धान की फसल के लिए एक कहावत है –

साठी हौवे सठवे दिन।
जब पानी पावै अठवें दिन।।

यदि साठी धान को हर आठ दिन में पानी मिलता रहे तो वह साठवें दिन तैयार हो जाता है।
4. सितम्बर माह में अच्छी वर्षा होने से बारानी क्षेत्रों में रबी की फसलों में चने एवं सरसों की बुआई की जा सकती है जो एक मावठ होने पर अच्छी उपज दे सकती है।
5. रबी की फसलों में दिसम्बर जनवरी में महावट या मावट की वर्षा हो जाने से फसल पर पाले का प्रभाव नहीं पड़ता पैदावार भी अधिक प्राप्त होती है।
6. खड़ी फसल में दाने की दूधिया अवस्था में (Milk stage) वर्षा से दाने सुडौल व मोटे बनते है, उपज अधिक मिलती है।

वर्षा का फसलों पर प्रतिकूल प्रभाव :–

वर्षा का असमान वितरण, मौसम की यह ऐसी प्रतिकूल दिशा है जो फसलों को सर्वाधिक प्रभावित करती है। कभी अतिवृष्टि, कभी अनावृष्टि व कभी असमय वृष्टि एवं ओला वृष्टि होती है, जिसका फसलों पर प्रतिकूल प्रभाव होता है।

(अ) अतिवृष्टि का फसलों पर प्रभाव :–

(i) खेत में अधिक समय पानी रहने से जड़ क्षेत्र में वायु संचरण प्रभावित होकर फसलों की पत्तियां पीली पड़ जाती है, पौधों को आवश्यक पोषक तत्वों की आपूर्ति कम हो कर पौधों की वृद्धि रूक जाती है। विशेष रूप से बाजरा, मक्का, मूंग, उड़द, लोबिया को भारी क्षति होती है।
(ii) खेत में पानी भरा रहने से मृदा ताप घट जाता है, मृदा में उपस्थित लाभप्रद जीवाणु की क्रिया में बाधा पड़ती है।

बचाव के उपाय :–

(i) अतिवृष्टि सहनशील फसलों जैसे धान, जूट, गन्ना उगानी चाहिए।
(ii) अतिवृष्टि प्रभावित क्षेत्रों में जल निकास की उचित व्यवस्था करनी चाहिए।
(iii) खेत में से जल निकास करने के बाद हल्की जुताई कर कार्बनिक खाद का प्रयोग करना चाहिए।

(ब) अनावृष्टि :– वर्षा का असमान वितरण होने से कुछ क्षेत्र में बिल्कुल भी वर्षा नहीं होती, फसल बोना ही संभव नहीं हो जाता है। यदि फसल बो दी गई है तो वर्षा के अभाव में खड़ी फसल सूख जाती है।

बचाव के उपाय :–

(i) कम अवधि वाली शीघ्र पकने वाली, कम वानस्पतिक वृद्धि करने वाली कम जल माँग वाली प्रतिरोधी किस्में बोनी चाहिए।

जैसे – (अ) बाजरा – एच.एच.बी. 67, आर.एच.बी. 177, आई. सी.एम.एच. 356
(ब) ज्वार – सी.एस.एच–1, सी.एस.एच–5
(स) मोठ – आर.एम.ओ 40, आर.एम.ओ 257
(द) तिल – आर टी 46, आर टी 127
(य) ग्वार – आर जी सी 936, आर जी सी 1003 आदि।

(ii) फसल की कटाई के तुरंत बाद जुताई करके पाटा लगा देना चाहिए।
(iii) फसलों की बुआई वर्षा शुरू होते ही कर देनी चाहिए।
(iv) शुष्क कृषि तकनीक अपनाई जानी चाहिए। इस तकनीक में प्रति हैक्टर पौधों की संख्या कम रखी जाती है व इन क्षेत्रों में बीज अंकुरण कम हो पाता है इसलिए बीज की मात्रा 10% बढ़ा देते है।
(v) मृदा में नमी संरक्षण बढ़ाने के लिए कार्बनिक खादों का प्रयोग अधिक करते है। वाष्पीकरण रोकने हेतु पलवार (mulching) की जानी चाहिए।
(vi) वर्षा प्रारम्भ होते ही ओट आने पर जुताई कर देते है।
(vii) मिश्रित फसल बोना लाभकारी रहता है। जैसे – ज्वार+मूंग, बाजरा+मोठ।

(स) असमय वृष्टि :– वर्षा की आवश्यकता न होने पर भी वर्षा आ जाये तो इसका फसलों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है:–

(i) बुआई के तुरंत बाद वर्षा आने से बीज अंकुरित नहीं हो पाते।
(ii) फसल बोने के बाद निरंतर वर्षा हाते रहने से खड़ी फसल में निराई–गुड़ाई का समय नहीं मिलता, फसल पीली पड़ जाती है। राजस्थान के बांसवाड़ा क्षेत्र में मक्का के खेतों में अक्सर यह समस्या आती है।
(iii) फसलों के वृद्धि काल में तेज हवाओं के साथ वर्षा होने से मक्का, ज्वार, बाजरा आदि फसलें गिर जाती है।
(iv) फसलों में पुष्पन (फूल आने के समय), बाली निकलते समय वर्षा होने से परागकरण धुल जाते है। जिससे परागण व निषेचन न होने से बीज नहीं बनते पैदावार में भारी कमी आती है।
(v) आकाश में बादल छाये रहने, बूंदा – बांदी रहने से फसलों में कीट व रोग का आक्रमण बढ़ जाता है।

बचाव के उपाय :–

1. फसल बुआई के तुरंत बाद वर्षा से बीज अंकुरित नहीं हो पाता । इसके लिए खेत में बनी पपड़ी को अंधी गुड़ाई (Blind hoeing) करके तोड़ देना चाहिए।

2. असमय वर्षा से फसलों को बचाने के लिए खेत में जल निकास की उचित विधि अपनाकर अनावश्यक पानी खेत से शीघ्र बाहर निकाल देते है।

ओलावृष्टि – (Hail Storm) – वृष्टि का यह भीषणतम रूप है। इसकी उत्पत्ति वायुमण्डल में जलवाष्प बूंदों का तापक्रम हिमांक (Freezing point) से कम होने पर बर्फ के रूप में जम जाने से होती है। ओले से तात्पर्य ऐसी हिम कन्दुकों (Ice balls) से है, जिनका व्यास 5 से 50 मिलीमीटर होता है। मटर के दाने से लेकर टेनिस बॉल के आकार के ओले गिरते देखे गये है।

ओले गिरने से प्रतिकूल प्रभाव –

ओले गिरने से फसलों की बालियाँ, फूल, पौधों की टहनियाँ टूट जाती है। अधिक ओले गिरने से रबी की पूरी फसल नष्ट हो जाती है। फल वृक्षों के फल व फूल गिर जाते है।

बचाव – ओले पड़ने का कोई निश्चित समय नहीं होता, तथा अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता कि किस क्षेत्र में ओलावृष्टि होगी इसलिए फसलों को इनसे बचाने का कोई प्रभावी तरीका नहीं ढूँढा जा सका है। कृषि अनुसंधान केन्द्रों पर कार्यरत ग्रामीण कृषि मौसम सेवा से जुड़कर किसान मौसम की भविष्यवाणी के बारे में जानकर कृषि मौसम सलाह के आधार पर बचाव के उपाय कर सकते है।

6. वायु (Winds) :–

अधिक दाब क्षेत्र से कम दाब क्षेत्र की ओर क्षैतिज गमन (Horizontal motion) करने वाली हवा (Air), वायु (Wind) कहलाती है। मौसम भविष्यवाणी (Weather forecasting) में वायु की दिशा महत्वपूर्ण मापदण्ड है। वायु का नामकरण उसके बहने की दिशा के आधार पर होता है, जिस दिशा की ओर से वायु बहती है वह वायु उस दिशा के आधार पर ही जानी जाती है, जैसे पश्चिम की तरफ से आने वाली वायु को पश्चिमी वायु कहते है।

पवनों के अनुकूल प्रभाव :–

1. मौसम का यह तत्व पौधों के वृद्धि विकास को अत्यधिक प्रभावित करता है। मार्च अप्रैल में गर्म पछुआ हवाएँ फसलों के लिए लाभकारी है। उन्हें पकने में सहायता के साथ – साथ ओसाई में भी लाभदायक रहती है।
2. जुलाई – अगस्त में मानसून की हवाएँ चलने से वर्षा होती है।
3. वायु द्वारा अधिकांश फसलों जैसे – मक्का, बाजरा, सरसों में परागण होता है।
4. वायु जब मंद गति से चलती है तो पौधों को कार्बन डाइ ऑक्साइड की उपलब्धता बढ़ जाती है, प्रकाश संश्लेषण की दर बढ़ती है। जिससे फसलों में वृद्धि शीघ्रता से होती है।
5. फसलों की मड़ाई व ओसाई के समय हवा चलने से आसानी रहती है।

पवनों के प्रतिकूल प्रभाव :–

पवन की प्रतिकूल दशा मुख्यतः लू, आँधी, तूफान, शीतलहर है। वायु की गति तेज होने पर आँधी, तूफान, लू आते है। तापमान भिन्नता के कारण दो तरह की हवायें चलती है –

(i) **'लू' –** मई–जून के महीने में गर्म हवायें जो पश्चिम दिशा से चलती है इन्हें 'लू' कहते है।

(ii) **'शीतलहर' –** दिसम्बर–जनवरी में जो ठण्डी हवाएँ उत्तर दिशा से आती हैं इन्हें शीत लहर कहते है। न्यून तापक्रम का प्रभाव कोमल पौधों विशेष रूप से नर्सरी के पौधों, फल, फूल वाले पौधों पर अधिक पड़ता है।

फसलों पर प्रभाव

1. आँधी तूफान आने पर गन्ना, ज्वार, बाजरा आदि फसलें गिर जाती है। यदि फसल पकाव के समय ऐसा होता है तो कटाई में कठिनाई आती है।
2. वृक्षों की टहनियाँ टूट जाती है, कई बार तो वृक्ष जड़ सहित उखड़ जाते है।
3. फरवरी–मार्च में तेज हवाएँ चलने से फसलें शीघ्र पकने लगती है। दाने सिकुड़े हुए प्राप्त होते है और प्रति इकाई क्षेत्र उपज कम प्राप्त होती है।
4. तेज हवायें चलने से उच्च तापक्रम के प्रभाव से फसलों की जलमाँग बढ़ जाती है, शीघ्र सिंचाई करनी पड़ती है।
5. फलवृक्षों के फल, फूल झड़ जाते है।

बचाव के उपाय :–

1. वायुरोधी वृक्ष लगाकर (Plantation of Wind breaks) – वायुरोधी वृक्ष जैसे – खेजड़ी, बबूल, शीशम, जंगल जलेबी आदि खेत या बाग के चारों ओर लगाने से तेज हवायें, आँधी, तूफान, लू आदि का प्रभाव कम हो जाता है।
2. खेत या बाग के चारों ओर झाड़ीदार बाड़ लगाकर(Hedge Plantation) – खेते के चारों ओर करोंदा, मेंहदी, अरहर की बाड़ लगाने से फसलों पर इनका प्रतिकूल प्रभाव कम किया जा सकता है।
3. स्तम्भन (Propping) – गन्ना, ज्वार, मक्का की फसलों के तनों को उन्हीं की पत्तियों द्वारा बाँध देते है इस क्रिया को स्तम्भन (Propping) कहते है। इससे फसलें गिरने से बच जाती है।
4. कूष्माण्ड कुल (Cucurbitaceae) की लू अवरोधी फसलें टिण्डा, मतीरा, ककड़ी आदि पश्चिमी राजस्थान के लू प्रभावित क्षेत्रों में बोना लाभदायक है।

7.वायुमण्डलीय दाब (Atmospheric Pressure) :–

किसी स्थान पर कार्य कर रहे बल को दाब कहते है।

किसी इकाई क्षेत्र पर लम्बवत् रूप से वायु का भार जो एक बिन्दु पर केन्द्रित हो वायुमण्डलीय दाब कहलाता है। पृथ्वी की गुरूत्वाकर्षण शक्ति के कारण वायु पृथ्वी पर दाब उत्पन्न करती है। इसे इंचों या मिमी में पारे की ऊँचाई के रूप में व्यक्त किया जाता है। एक वर्ग इंच वायु के स्तम्भ (वायुमण्डल के शीर्ष तक) का वजन लगभग 15 पोण्ड होता है।

वायुमण्डलीय दाब से चक्रवातों का निर्माण होता है। जब भी किसी जगह का वायुमण्डलीय दाब सामान्य परिस्थितियों से कम होता है तो वहाँ आस–पास उच्च वायुदाब क्षेत्र की वायु पहुँचने का प्रयास करती है और इस कारण से वहाँ चक्रवात बन सकता है। तूफान और चक्रवात के साथ – साथ बारिश आने की संभावना के बारे में बेरोमीटर के पठन से अनुमान लगाया जा सकता है। वायुमण्डलीय दाब फसल वृद्धि को किसी भी प्रकार से प्रत्यक्ष तौर पर प्रभावित नहीं करता है। चूंकि वायु संचार, वायु दिशा, बादलों का संचार आदि वायुमण्डलीय दाब से प्रभावित होते है अतः यह मौसम भविष्यवाणी के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण मापदण्ड है।

मौसम सम्बन्धी उपकरणों की सामान्य जानकारी

तापमापी :– किसी वस्तु की गर्मी एवं शीतलता का माप तापमान है। वायु के तापमान को तापमापी (Thermometer) द्वारा ज्ञात किया जाता है। किसी भी मौसम वेधशाला (Meteorological Observatory) में निम्न चार प्रकार के तापमापी होते है :–

(i) अधिकतम तापमापी (Maximum Thermometer)

(ii) न्यूनतम तापमापी (Minimum Thermometer)

(iii) शुष्क एवं आर्द्र बल्ब तापमापी (Dry & Wet bulb Thermometer)

उपरोक्त तापमापियों में से प्रथम दो वायु का क्रमशः अधिकतम एवं न्यूनतम तापमान ज्ञात करने के लिए एवं शेष दो वायु का ओसांक (Dew Point), आर्द्रता (Humidity), एवं

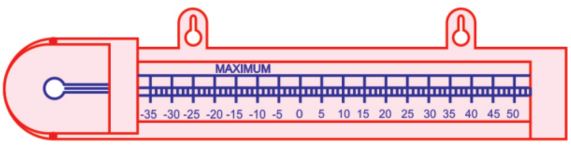

अधिकतम तापमापी

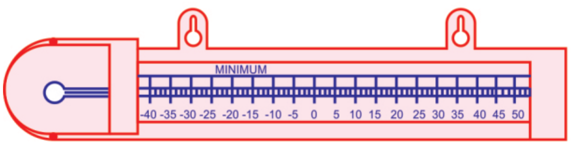

न्यूनतम तापमापी

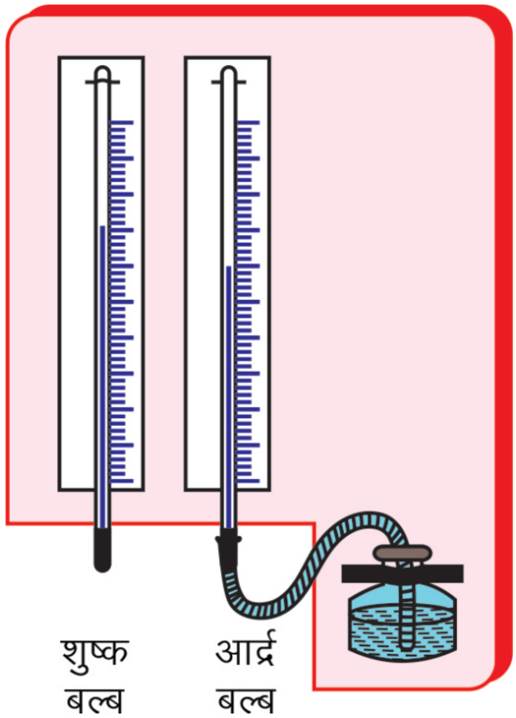

जलवाष्प दाब (Vapour Pressure) ज्ञात करने में प्रयुक्त होते है।

(i) अधिकतम तापमापी (Maximum Thermometer) :–

काँच की नली में पारा रहता है और वायु का अधिकतम तापमान ज्ञात करने में प्रयुक्त होता है। काँच की पतली नली होती है जिसका एक सिरा बल्ब के रूप में तथा दूसरा सिरा बन्द होता है। नली के निचले सिरे में पारा (Mercury) भरा होता है। बल्ब के पास काँच की नली में एक संकुचन (constriction) होता है, जो पारे को अपने आप गिरने नहीं देता है। तापमापी पर -35^{0}C से +55^{0}C तक सेल्सियस पैमाने पर मात्रक अंकित रहते है। तापमान बढ़ने के अनुसार काँच की नली में पारा ऊपर चढ़ने लगता है। परन्तु तापमान कम होने पर संकुचन के कारण पारा वापस नीचे नहीं आ पाता है। इसी कारण दिन का अधिकतम तापमान इस तापमापी से कभी भी ले सकते है। इसे प्रतिदिन सुबह के समय व्यवस्थित (set) करते है और इस समय इसका पाठ्यांक शुष्क बल्ब तापमापी से ±0.3 ^{0}C होना चाहिए।

(ii) न्यूनतम तापमापी (Minimum Thermometer) :–

काँच की नली में एल्कोहॉल रहता है और इसकी सहायता से दिन

का न्यूनतम तापमान ज्ञात किया जाता है। नली के निचले सिरे में बल्ब की तरफ एल्कोहॉल भरा रहता है और उसके अग्र सिरे की तरफ केश नलिका में एक डम्बल के आकार का नीले रंग का संकेतक (Index) लगा रहता है जिसका ऊपर की तरफ का सिरा, जो पृष्ठ तनाव के कारण रूका रहता है, न्यूनतम तापमान प्रदर्शित करता है। तापमान कम होने पर एल्कोहॉल का आयतन घटता है। एल्कोहॉल की इस सिकुड़न की साथ संकेतक भी तापमापी के बल्ब की तरफ नीचे आता है। तापमान बढ़ने पर एल्कोहॉल का आयतन बढ़ता है परन्तु संकेतक एल्कोहॉल के साथ ऊपर की तरफ नहीं बढ़ता है। अतः संकेतक के ऊपरी सिरे से कभी भी न्यूनतम तापमान ज्ञात किया जा सकता है। इसे प्रतिदिन दोपहर के समय व्यवस्थित किया जाता है और इस समय इसका तापमान शुष्क बल्ब तापमापी $\pm 0.6\ ^0C$ तक होना चाहिए। इस तापमापी पर $-40\ ^0C$ से $+50\ ^0C$ तक सेल्सियस पैमाने में मात्रक अंकित होते है।

(iii) शुष्क एवं आर्द्र बल्ब तापमापी

(Dry & Wet Bulb Thermometer) :– यह भी अधिकतम तापमापी की तरह पारे वाला तापमापी होता है जो कि वायु के तापमान को ज्ञात करने में प्रयुक्त होता है। चूंकि इसमें अधिकतम तापमापी की तरह बल्ब के पास संकुचन (Constriction) नही होता है, अतः काँच की नली में स्थित पारा वायुमण्डल के तापमान के उतार – चढ़ाव के साथ ऊपर नीचे होता रहता है।

आर्द्र बल्ब तापमापी शुष्क बल्ब तापमापी के समान होता है। चूंकि यह संतृप्त वायु का तापमान प्रदर्शित करता है अतः इसके बल्ब को मलमल के कपड़े से ढके हुए रखते है जो एक सूती धागे से बँधा रहता है और यह धागा एक आसुत जल से भरे डिब्बे में डूबे रहकर केशिकत्व के सिद्धान्त पर पानी सोखकर तापमापी के बल्ब के पास की वायु को संतृप्त रखता है। इस प्रकार इस तापमापी से दिन में कभी भी संतृप्त वायु का तापमान ज्ञात किया जा सकता है। जब वायु में शुष्कता बढ़ती है तो दोनों तापमापियों के पाठ्यांक में अन्तर बढ़ता है और शुष्कता कम होने पर अन्तर भी कम हो जाता है। वायु की पूर्ण संतृप्तता (Saturation) की अवस्था में दोनों का पाठ्यांक (Reading) समान रहता है। इन दोनो तापमापियों की सहायता से शुष्क एवं संतृप्त वायु का तापमान ज्ञात करके रेग्नाल्ट सारणी (Regnault's Table) द्वारा वायु की आर्द्रता, वाष्प दबाव और ओसांक ज्ञात किया जाता है।

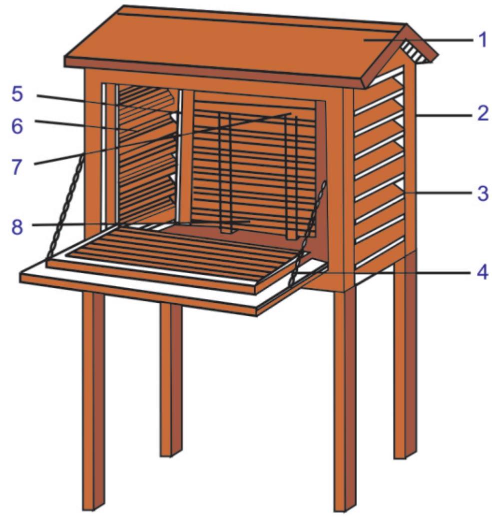

1. छत
2. लकड़ी का बक्सा
3. लकड़ी के फट्टे
4. दरवाजा
5. अधिकतम तापमापी का स्थान
6. शुष्क बल्ब तापमापी का स्थान
7. आर्द्र बल्ब तापमापी का स्थान
8. न्यूनतम तापमापी का स्थान

स्टीवेन्सन स्क्रीन :– ये चारों तपापमापी मौसम वेधशाला में लकड़ी के एक विशेष प्रकार के बक्से में रखे जाते है, जिसे स्टीवेन्सन स्क्रीन कहते है। यह बक्सा पृथ्वी की सतह से 1.22 मीटर की ऊँचाई पर चार लोहे या लकड़ी के स्तम्भों पर स्थापित किया जाता है और इसको सफेद रंग से रंगा जाता है ताकि धूप, विकिरण से इसके अन्दर रखे तापमापियों को बचाया जा सके। इसको इस प्रकार स्थापित किया जाता है कि इसका दरवाजा उत्तर दिशा में नीचे की तरफ लटकते हुए खुलता है जिससे सूर्य की रोशनी कम से कम प्रवेश करे। इस प्रकार इस बक्से में रखकर तापमापियों को धरातल एवं अन्य वस्तुओं के सीधे सम्पर्क से दूर रखकर गर्म होने से बचाते है, साथ ही वर्षा से भी सुरक्षित रखते है।

चित्र में बताये अनुसार अधिकतम एवं न्यूनतम तापमापी स्टीवेन्सन स्क्रीन में क्षैतिज/अनुप्रस्थ (Horizontal) अवस्था में क्रमशः ऊपर एवं नीचे की तरफ रखते है। शुष्क बल्ब तापमापी एवं आर्द्र बल्ब तापमापियों को इनके साथ उर्ध्वाधर (Vertical) अवस्था में क्रमशः बायीं एवं दायीं तरफ स्थापित करते है।

तापमान सम्बन्धी अन्य महत्वपूर्ण तथ्य –

दैनिक औसत तापमान – दिन का उच्चतम व न्यूनतम तापमान ज्ञात होने पर दिन का औसत तापमान निम्न सूत्र से ज्ञात करते है –

$$\text{औसत तापमान} = \frac{\text{उच्चतम तापमान} + \text{न्यूनतम तापमान}}{2}$$

दैनिक तापान्तर – 24 घण्टे की अवधि में प्राप्त उच्चतम तापक्रम में से न्यूनतम तापक्रम को घटाने पर प्राप्त तापमान को दैनिक तापान्तर कहते है –

दैनिक तापान्तर = उच्चतम तापमान – न्यूनतम तापमान

मासिक औसत तापमान – एक माह के दैनिक औसत तापमान को जोड़कर उसमें महीने के दिनों की संख्या का भाग देने पर जो तापमान प्राप्त होता है उसे मासिक औसत तापमान कहते है।

मासिक औसत तापमान = महीने के प्रतिदिन के औसत तापमानों का योग / महीने के दिनों की संख्या

तापमान की मापनियों का रूपान्तरण –

वर्तमान में तापक्रम मापन हेतु प्रमुख दो इकाईयाँ काम में ली जाती है। सेन्टीग्रेड का अविष्कार एण्डर्स सेल्सियस व फॉरेनहाइट इकाई का आविष्कार डेनियल फॉरेनहाइट ने किया।

$$\frac{F-32}{9} = \frac{C}{5}$$

यहां F = डिग्री फॉरेनहाइट, C = डिग्री सेल्सियस

वर्षामापी (Rain gauge) :– पृथ्वी की सतह पर एक निश्चित समय में वर्षा द्वारा बरसने वाले पानी की कुल मात्रा को पानी की गहराई के रूप में मिमी. या सेमी. में व्यक्त करते है। जल वृष्टि की मात्रा को मापने के लिए प्रयुक्त होने वाला उपकरण वर्षामापी कहलाता है। यह दो प्रकार के होते है :–

(i) साधारण वर्षामापी (Ordinary rain gauge) :– यह धातु का बना एक खोखला सिलिण्डर होता है। इसमें ऊपर की ओर एक संग्राहक या कीप (Funnel) लगी रहती है जिसका व्यास सिलिण्डर के व्यास के बराबर होता है। सिलिण्डर के अन्दर जल गृहीता बोतल (Receiver Bottle) रखी रहती है। वर्षा की बूंदे कीप द्वारा जल गृहीता बोतल में इकट्ठी होती रहती है। इस प्रकार जल को अंशांकित सिलिण्डर (Graduated cylinder) की सहायता से नाप लिया जाता है। 24 घण्टे में हुई वर्षा को मिमी. या सेमी. मे लिखा जाता है। 20 मिमी. वर्षा का मतलब है कि यदि यह वर्षा समतल भूमि पर पड़े तथा इसके बाद न उसकी वाष्प बने, न भूमि सोखे एवं न ही जल बहे तो 20 मिमी. तक जल की तह पृथ्वी सतह पर होनी चाहिए। इस यंत्र के मुख्य भाग निम्न प्रकार है –

(अ) धातु का सिलिण्डर

(ब) कीप या संग्राहक यंत्र

(स) जल गृहीता बोतल

(द) अंशांकित सिलिण्डर (नपना गिलास)

यह उपकरण वर्षा को न माप कर वर्षा के जल को एकत्र करता है तथा एकत्रित वर्षा जल को निम्न सूत्र की सहायता से मापा जाता है।

वर्षा की मात्रा (सेमी)=

$$\frac{\text{पात्र में एकत्रित जल की मात्रा (मि.ली.)}}{\text{कीप का क्षेत्रफल (वर्ग सेमी.)}}$$

चूंकि कीप के मुख के क्षेत्रफल एवं अंशांकित सिलिण्डर के मध्य एक विशेष सम्बन्ध रखा जाता है। अतः उपरोक्त सूत्र को उपयोग किए बिना वर्षा की मात्रा अंशाकित सिलिण्डर की सहायता से ज्ञात की जा सकती है।

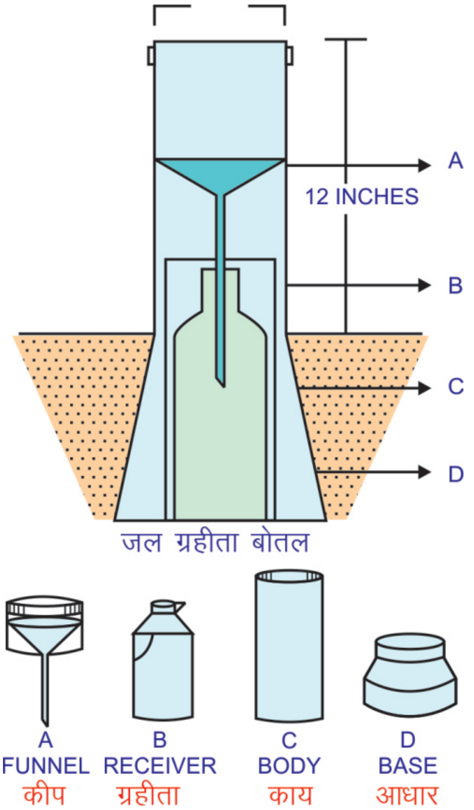

(ii) स्वतः अभिलेखी वर्षामापी (Self recording rain gauge) :– इसकी सहायता से ग्राफ कागज पर वर्षा का स्वतः एवं सतत् अंकन हो जाता है। इससे प्रतिदिन वर्षा की कुल मात्रा, वर्षा की तीव्रता एवं वर्षा होने के वास्तविक समय का पता लगाया जा सकता है।

हाइग्रोमीटर :– वायुमण्डल की आर्द्रता मापने के लिए प्रयुक्त होने वाले उपकरण को हाइग्रोमीटर कहते है। इससे आर्द्रता अप्रत्यक्ष (Indirect) तौर पर ज्ञात की जाती है जिसमें हाइग्रोमीटर सारणी और संतृप्त वाष्पदाब सारणियों की सहायता से आपेक्षिक आर्द्रता की गणना की जाती है। बाल आर्द्रतामापी (Hair Hygrometer) अधिकांशतः प्रयुक्त होने वाली हाइग्रोमीटर है जिनमे मानव का बाल (Human Hair) संवेदनशील तत्व के रूप में प्रयुक्त होता है।

आर्द्रता के स्वतः और सतत अंकन हेतु बाल आर्द्रता लेखी (hair hygrograph) उपकरण का उपयोग किया जाता है।

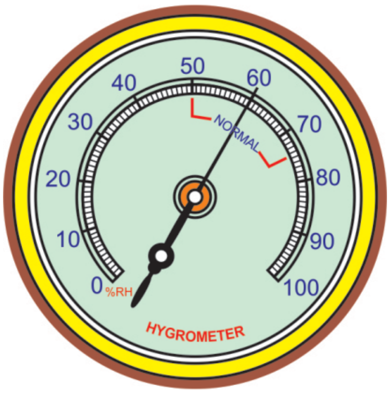

वायुदिक्सूचक यंत्र (Wind vane) :– वायु के बहने की दिशा

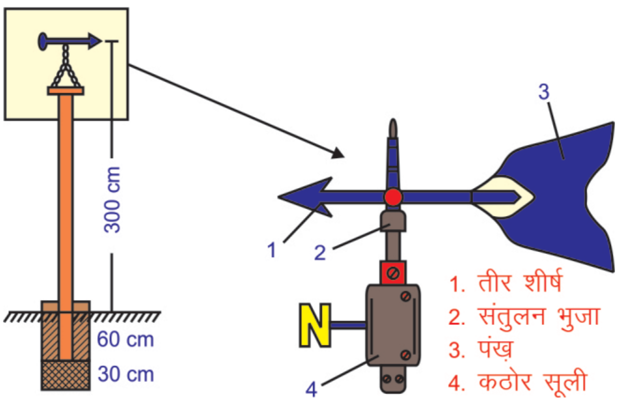

ज्ञात करने वाले उपकरण को वायुदिक्सूचक यंत्र कहते है। जिस ओर से वायु बहती है (Windward side) वायु का या उसकी दिशा का नामकरण उसके अनुसार किया जाता है उदाहरणार्थ यदि वायु दक्षिण दिशा से आ रही है तो वायु दक्षिणी वायु (southern wind) कहलाती है। इस यंत्र में 75 सेमी. लोहे के तीर को काष्ठ फलक की सीधी धुरी पर इस प्रकार लगाते है कि तीर धुरी पर लगे बाल बियरिंग की सहायता से सुगमतापूर्वक घूम सके। तीर का पिछला भाग पूँछ कहलाता है जो लोहे की पतली चद्दर का बना होता है। तीर के नीचे मुख्य दण्ड पर दिशा सूचक चार छड़े जिन पर उत्तर, दक्षिण, पूर्व व पश्चिम (N, S, E, W) अंकित रहता है।

तीर भारी होने के कारण हमेशा पवनाभिमुख (Windward side) अर्थात जिधर से वायु प्रवाहित होती है, हो जाता है। दूसरा हिस्सा हल्का होने के कारण विपरीत दिशा (Leeward side) मे होता है। यह तीर और दिशासूचक छड़ों सहित काष्ठफलक एक 3.05 मीटर ऊँचाई के लकड़ी या धातु के खम्भे पर स्थापित किए जाते है। वायु दिशा को दिशा के नाम के आधार पर या उत्तर से घड़ी की सुई के अनुसार (Clockwise) डिग्री मे प्रदर्शित करते है।

वायुवेग मापी (Anemometer) :– वायु की गति ज्ञात करने के लिए इस यंत्र का उपयोग किया जाता है। इसका अविष्कार राबिन्सन नामक वैज्ञानिक ने किया था अतः इसको रॉबिन्संस कप वायु वेग मापी (Robinson's cup Aneomometer) भी कहते है। वाुय दाब में अंतर होने के कारण अधिक वायु दाब से कम वायुदाब की तरफ हवाएँ चलती है। अंतर के कम या अधिक होने पर हवाएँ भी कम या अधिक गति से चलती है।

इस यंत्र में धातु की छड़ के ऊपरी सिरे पर चार अर्द्धगोलाकार प्याले (कटोरियाँ) लगे रहते है। इन प्यालों के नीचे एक वायु वेग सूचक मीटर लगा रहता है। जिसमें से दो पाठ्यांकों के अंतर की सहायता से पाठ्यांकों के समय अन्तराल के आधार पर गणना करके वायु की गति किलोमीटर/घंटा में प्रदर्शित करते है। यह वायु वेगमापी धातु के पाइप पर स्थापित किया जाता है। जिसकी पृथ्वी सतह से ऊँचाई 3 मी. होती है।

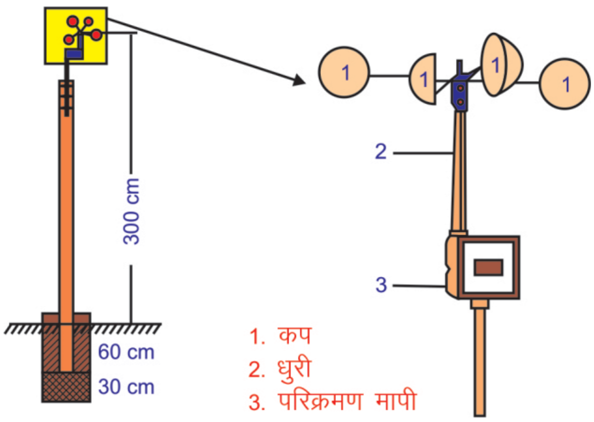

उपरोक्त उपकरणों को स्थापित करने के लिए स्थान (वेधशाला) के चयन के समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आस पास कोई ऊँचा मकान, वृक्ष आदि न हो। उस स्थान पर पानी न भरता हो। जंगली व आवारा जानवरों, आदि से स्थान पर्याप्त रूप से सुरक्षित हो। वेधशाला की स्थापाना सदैव फार्म या खेत के मध्य समतल स्थान पर की जानी चाहिए।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न–

1. जलवायु शब्द की उत्पत्ति किस भाषा शब्द से हुई है?

(अ) ग्रीक (ब) लैटिन

(स) अरेबिक (द) इनमें से कोई नहीं

2. विश्व मौसम विज्ञान संगठन (WMO) का कार्यालय कहाँ पर स्थित है?

(अ) जिनेवा (ब) नीदरलैण्ड

(स) भारत (द) अमेरिका

3. मध्यवर्ती प्रदीप्ति कालिक पौधे में पुष्प के लिए प्रकाश अवधि आवश्यक होती है ।

(अ) 8–10 घंटे (ब) 12–14 घंटे

(स) 8 घंटे से कम (द) 14 घंटे से ज्यादा

4. मध्यवर्ती प्रदीप्ति कालिक पौधे का उदाहरण है ।

(अ) गन्ना (ब) मक्का

(स) गेहूँ (द) चावल

5. बाजरे की कम अवधि तथा शीघ्र पकने वाली किस्म कौन सी है?

(अ) आर.एच. बी. 171

(ब) जी.एच. बी. 538

(स) एच.एच.बी. 67

(द) आर.एच. बी. 173

6. अधिकतम तापमापी पर कितने सैल्सियस पैमाने पर मात्रक अंकित रहते हैं ।

(अ) -35^{o} C से $+55^{o}$ C

(ब) 35^{o} C से -55^{o} C

(स) $+35^{o}$ C से $+55^{o}$ C

(द) उपयुक्त सभी

7. वायुमण्डलीय दाब की प्रचलित इकाई क्या है?

(अ) मिलीबार (ब) मिली लीटर

(स) क्यूबिक मीटर (द) सेन्टीमीटर

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न–

8. कोई दो लघु दिवस या अल्प प्रकाशक्षेपी पौधों के नाम बताइये?

9. शीलकालीन फसलों के लिए इष्टतम तापमान कितना होता है ?

10. सापेक्ष/आपेक्षित आर्द्रता की इकाई लिखिए ।

11. बौछार क्या होती है ।

12. स्तम्भन (Propping) क्या है ।

13. किन्हीं चार वायु रोधी वृक्षों के नाम बताइये ।

14. वर्षा मापी कितने प्रकार के होते हैं ?

15. किन्हीं दो वर्णरन्ध्र बंद करने वाले रसायनों का नाम बताइये ।

16. ग्रीष्मकालीन फसलों के लिए आवश्यक न्यूनतम तापमान कितना होता है ?

17. आधार तापमान क्या होता है ?

18. गुप्त ऊष्मा को परिभाषित कीजिए ।

19. कोहरा कितने प्रकार का होता है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न–

20. मौसम एवं जलवायु को परिभाषित कीजिए ।

21. बादल कितने प्रकार के होते हैं ? नाम लिखे ।

22. वर्षण से आप क्या समझते हैं ?

23. पवनों का फसलों पर क्या–क्या अनुकूल प्रभाव पड़ता है?

24. ओला वृष्टि क्या होती है ? लिखिए ।

25. अधिकतम तापमापी के बारे में आप क्या जानते हैं ?

26. पाला फसल को कैसे नुकसान पहुँचाता है ।

27. पाले से फसल को बचाने के लिए क्या करना चाहिए ?

28. संचालन (Conduction) क्या होता है ?

29. दिवस निष्प्रभावी पौधे क्या होते हैं ? उदाहरण सहित समझाइए ।

30. एल्बिडो क्या है ?

31. सौर विकिरण से आप क्या समझते हैं?

32. मोठ की कम अवधि वाली तथा शीघ्र पकने वाली किस्मों के नाम लिखो ।

33. पाँच मौसम संबंधी उपकरणों के नाम लिखो।

34. तापमान का वाष्पोत्सर्जन क्रिया पर क्या प्रभाव पड़ता है?

निबंधात्मक प्रश्न–

35. वायुमण्डलीय तापमान से क्या अभिप्राय है ? विस्तार से लिखिए ।

36. मेघ क्या है? इनका महत्व लिखिए ।

37. वर्षा का फसलों पर क्या प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है? बचाव के उपाय लिखिए ।

38. तापमापी कितने प्रकार के होते हैं? चित्र सहित समझाइये।

39. फसलोत्पादन को प्रकाश किस प्रकार प्रभावित करता है? वर्णन कीजिए ।

40. मौसम एवं जलवायु में क्या अन्तर होता है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तरमाला–

1.	अ	2.	अ	3.	ब
4.	अ	5.	स	6.	अ
7.	अ				

अध्याय–3
मृदा (Soil)

मृदा की परिभाषा – वैज्ञानिकों ने मृदा की अलग–अलग परिभाषाएँ दी है कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित है–

''मृदा पृथ्वी की सबसे ऊपर वाली अपक्षयित ठोस पपड़ी की परत है। जो चट्टानों के टूटने व रासायनिक परिवर्तन से बने छोटे–छोटे कणों और उस पर रहने और उपयोग करने वाले पादप व जन्तु अवशेषों से बनी है''– रमन (1971)

''मृदा वह प्राकृतिक पिण्ड है जो विच्छेदित एवं अपक्षयित खनिज पदार्थों तथा कार्बनिक पदार्थों के सड़ने से बने विभिन्न पदार्थों के परिवर्तनशील मिश्रण से प्रोफाइल के रूप में संश्लेषित होती हैं। यह पृथ्वी को एक पतले आवरण के रूप में ढकती है तथा जल एवं वायु की उपयुक्त मात्रा के मिलने पर पौधों को यान्त्रिक आधार तथा आंशिक जीविका प्रदान करती है।''–बकमैन और ब्रैडी (1984)

''मृदा एक प्राकृतिक पिण्ड है जो प्राकृतिक पदार्थो पर प्राकृतिक बलों के प्रभाव से विकसित हुई है। प्रायः भिन्न गहराइयों के खनिज एवं कार्बनिक अवयवों के संस्तरों के अनुसार इसके भेद किये जाते हैं। ये संस्तर अपने से नीचे वाले मूल पदार्थों से आकृति, भौतिक गुणों और बनावट, रासायनिक गुणों और संगठन तथा जैविक लक्षणों में भिन्नता रखते हैं।'' – जोफे एवं मॉरवट

मृदा संगठन (Soil Composition)

द्रव्य की तीन अवस्थाओं के समान मृदा में भी ठोस, द्रव और गैस तीन अवस्थाएं होती हैं। पौधों को पोषण प्रदान करने दृष्टि से ठोस एवं द्रव अवस्थाएँ ही महत्वपूर्ण है। मृदा के मुख्य अवयव–1. खनिज पदार्थ, 2. कार्बनिक पदार्थ, 3. जल एवं 4. वायु होते हैं।

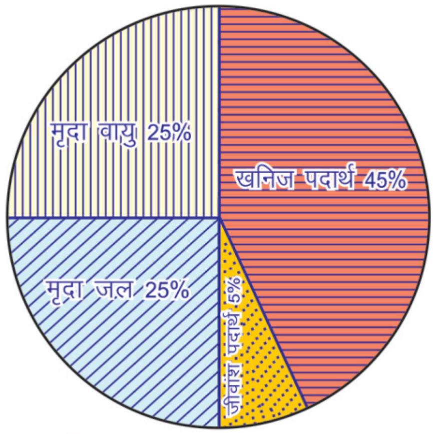

खनिज मृदा का आयतनात्मक संगठन

चित्र सं. 3.1– खनिज मृदा का आयतनात्मक संगठन

मृदा का आयतनात्मक संगठन (Volumetric Composition of Soil)

मृदा में मुख्य चार अवयव महीन दशा में पाये जाते हैं तथा मृदा के अन्य अवयवों से भली प्रकार मिश्रित रहते है। मृदा आयतन का लगभग 50 प्रतिशत भाग ठोस पदार्थ से घिरा रहता है। शेष आयतन को रन्ध्रावकाश कहते हैं। जिसमें 25 प्रतिशत में जल तथा 25 प्रतिशत में वायु भरी रहती है। जल और वायु के अनुपात में मौसम तथा अन्य कारकों के कारण परिवर्तन होता रहता है। सिल्ट दोमट मृदा का आयतनात्मक संगठन चित्र स. 3.1 के द्वारा दर्शाया गया है।

मृदा अवयवों का वर्णन –

1. **खनिज पदार्थ (Mineral Matter)** – मृदा का यह

अकार्बनिक अवयव है। जो चट्टानों के अपक्षय से प्राप्त होता है। इसमें आंशिक रूप से पूर्ण अपक्षयित पदार्थ जैसे स्वतंत्र सिलिका, एल्यूमिनोसिलिकेट्स और विभिन्न लवण और आंशिक बिना अपक्षयित पदार्थ जैसे मूल चट्टान के कण, अभ्रक, क्वार्टज इत्यादि होते हैं। खनिज विभिन्न आकार के कणों के रूप में पाये जाते है। मृदा में पत्थर, कंकड, मोटी बालू, महीन बालू सिल्ट तथा क्ले कण पाये जाते हैं मृदा में महीन अंश में द्वितीयक खनिज अधिकता में होते हैं। मृदा के खनिज पदार्थों में लगभग 90 प्रतिशत मात्रा सिलिका, एल्यूमिनियम, आयरन व ऑक्सीजन होते हैं। शेष 10 प्रतिशत में कैल्सियम, मैग्नेशियम, पोटैशियम, सोडियम तथा टाइटेनियम अधिक और, नाइट्रोजन, सल्फर, फास्फोरस, बोरोन, मैगनीज, जिंक व कॉपर कम मात्रा में होते हैं। इनके अलावा अन्य तत्व बहुत ही कम मात्रा में पाये जाते हैं।

2. **जीवांश पदार्थ (Organic Matter)** – भारात्मक दृष्टि से मृदा की ऊपरी परत में जीवांश पदार्थ की मात्रा 3 से 5 प्रतिशत होती है। यह मृदा में जन्तुओं एवं पौधों में जीवांश पदार्थ की मात्रा 20 प्रतिशत से कम होती है उन्हें खनिज मृदाएँ कहते हैं।

3. **मृदाजल** (Soil Water)– पौधों की वृद्धि के लिए जल मृदा में उपस्थित अनेकों लवणों को विलेय करके एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने का कार्य करता है। मृदा विलयन में घुले अनेक लवण पौधों की वृद्धि के लिए आवश्यक होते हैं। इनका सान्द्रण, वर्षा, वाष्पीकरण एवं पौधों की दैहिक क्रियाओं से घटता बढ़ता रहता है। मृदा में जल रन्ध्रावकाशों में विभिन्न बलों की सहायता से रुका रहता है। जब जल वाष्पीकरण एवं पौधों द्वारा वाष्पोत्सर्जन से उड़ा दिया जाता है तो रन्ध्रावकाशों में जल के स्थान पर वायु प्रवेश कर जाती है इस प्रकार मृदा में जल एवं वायु की मात्रा में परस्पर परिवर्तन होता रहता है।

4. **मृदा वायु** (Soil Air)– मृदा में रन्ध्रावकाशों में वायु भरी रहती है। वायुमण्डलीय वायु की अपेक्षा मृदा वायु में कार्बन–डाइ–ऑक्साइड की मात्रा अधिक होती है और ऑक्सीजन एवं नाइट्रोजन की मात्रा वायुमण्डल की अपेक्षा कम होती है। वायु केवल उन्ही रन्ध्रावकाशों में रहती है जिनमें जल नहीं होता है। गहराई के साथ–साथ मृदा वायु में कार्बन–डाइ –ऑक्साइड की मात्रा में वृद्धि और ऑक्सीजन की मात्रा में कमी होती है।

मृदा गठन (कणाकार) (Soil Texture)

परिभाषा– ''बालू, सिल्ट एवं मृत्तिका के कणों के आकार के सापेक्ष अनुपात को जिसके फलस्वरूप मृदा में मोटापन अथवा महीनता होती है। मृदा गठन या मृदा कणाकार कहते हैं''

Size of soil particles called soil texture.

मृदा के कणों के आकार के आधार पर मृदा को निम्नलिखित दो पद्धतियों द्वारा वर्गीकृत किया जाता है–

1. इन्टरनेशनल सोसायटी ऑफ सोइल साइन्स प्रणाली (I.S.S.S.)
2. संयुक्त राज्य अमेरिका कृषि विभाग पद्धति (USDA)

इन पद्धतियों द्वारा वर्गीकृत किये गये कणों के नाम व व्यास निम्नलिखित सारणी में दर्शाये गये है–

मृदा वर्ग कणों का वर्गीकरण

इन्टरनेशनल सोसायटी ऑफ सोइल साइन्स प्रणाली (I.S.S.S.)			संयुक्त राज्य अमेरिका कृषि विभाग पद्धति (U.S.D.A.)		
क्र. सं.	कण वर्ग का नाम	कण का व्यास (मि.मी. में)	क्र. सं.	कण वर्ग का नाम	कण का व्यास (मि.मी. में)
1	मोटी बालू	2.0 से 0.20	1	बहुत मोटी बालू	2.0 से 1.0
2	महीन बालू	0.20 से 0.02	2	मोटी बालू	1.0 से 0.5
3	सिल्ट	0.02 से 0.002	3	मध्यम बालू	0.5 से 0.25
4	मृत्तिका	0.002 से कम	4	महीन बालू	0.25 से 0.10
			5	बहुत महीन बालू	0.10 से 0.05
			6	सिल्ट	0.05 से 0.002
			7	मृत्तिका	0.002 से 0.0005
			8	कॉलाइड	0.0005 से कम

मृदा में मुख्य रूप से तीन प्रकार के कण वर्ग, बालू सिल्ट एवं मृत्तिका होते हैं जिनका वर्णन निम्नलिखित है –

1. बालू (Sand)– बालू के कणों में पृष्ठीय क्रियाशीलता कम होती है। इनकी उपस्थिति से मृदा में भुरभुरापन आता है। जिससे वायु तथा जल संचार को प्रोत्साहन मिलता है। इससे जल निकास में सुविधा रहती है। इसके कणों के बीच में बड़े आकार के रन्ध्र होने से जल का रिसाव शीघ्रता से हो जाता है। मृदा में जलधारण क्षमता बहुत कम होती है।

2. सिल्ट (Silt)– ये कण अनियमित आकार के होते है। सिल्ट की जल धारण क्षमता बालू से अधिक और मृत्तिका से कम होती है। इसमें बालू की अपेक्षा केशीय रन्ध्र अधिक संख्या में होते हैं। जिसमें मृदा में अधिक जल रहता है। जो पौधों की वृद्धि के लिए उपयोगी रहता है। इसमें संकुचन अधिक नहीं होता है और यह चूर्ण भी बन जाती है। जब सिल्ट में मृत्तिका तथा जीवांश पदार्थ की उचित मात्रा होती है तो यह फसल उत्पादन के लिए उपयुक्त रहती है।

3. मृत्तिका (Clay) :– मृत्तिका के कण अत्यधिक क्रियाशील होते हैं और मृदा के भौतिक एवं रासायनिक गुणों में बहुत योगदान देते है। इसमें कण सटे हुए रहते है जिससे ये जल मिलाने पर फूल जाती है और सूख जाने पर सिकुड़ जाने से दरारें बन जाती है। शीत ऋतु में ये मृदायें ठण्डी व चिपचिपी बनी रहती है। ऐसी मृदायें शीघ्र जलाक्रान्त हो जाती है। इनकी जल, गैसों एवं विलेय लवणों के प्रति अवशोषण क्षमता अत्यधिक होती है।

उपर्युक्त तीनों कण वर्ग के कणों के अनुपात के आधार पर मृदा का वर्गीकरण किया गया है। जब ये तीनों कण वर्ग एक विशेष अनुपात में मिलते है तो उस मृदा मिश्रण को एक विशेष नाम दिया जाता है। इसे मृदा गठन वर्ग कहा जाता है। यू.एस.डी.ए. पद्धति के अनुसार गठन वर्ग निम्नलिखित सारणी में दर्शाये गये है–

सारणी–प्रमुख मृदा गठन (कणाकार) वर्ग (यू.एस.डी.ए. पद्धति के अनुसार)

क्र.स.	गठन वर्ग	बालू%	सिल्ट%	मृत्तिका (क्ले)%
1	बालू	20–100	0–20	0–20
2	बालू लोम	50–80	0–50	0–20
3	लोम	30–50	30–50	0–20
4	सिल्ट लोम	0–50	50–100	0–20
5	बलुई क्ले लोम	50–80	0–30	20–30
6	सिल्ट क्ले लोम	0–30	50–80	20–30
7	क्ले लोम	20–50	20–50	20–30
8	बलुई क्ले	50–70	0–20	30–50
9	सिल्ट क्ले	0–20	50–70	30–50
10	क्ले	0–50	0–50	30–100

प्रमुख मृदा कणाकार वाली मृदाओं की विशेषताओं का वर्णन निम्नलिखित है–

1. बालू (Sand) :– रेगिस्तानी क्षेत्रों, नदी व समुद्र के किनारों पर बालू मृदा पायी जाती है। इस मृदा में जीवांश पदार्थ एवं चिपचिपेपन का अभाव होता है। शुष्क दशा में हाथ से दबाकर छोड़ने पर यह बिखर जाती है। जब धारण क्षमता प्राय कम होती है। इनमें चिकनी मिट्टी और जीवांश खाद का प्रयोग करके खरबूजा, तरबूज, लौकी, ककड़ी आदि कूष्माण्ड कुल की सब्जियाँ उगायी जा सकती है। वृक्षारोपण एवं हरी खाद के प्रयोग से मृदा धीरे–धीरे उपजाऊ होने लगती है।

2. बलुई दोमट (Sandy Loam) :– सूखी मृदा को हाथ में लेकर मसलने पर इसकी आकृति बनती है किन्तु बल हटाने पर आकृति समाप्त हो जाती है। आर्द्र मृदा में मसलने पर बनी आकृति सावधानी से रखने पर बनी रहती है। इस प्रकार की मृदा में कृषि कार्य सफलतापूर्वक किये जा सकते हैं। बाजरा, मूँगफली, आलू, प्याज, जैसी फसलें आसानी से उगायी जा सकती है।

3. दोमट (Loam) :– इस मृदा में बालू, सिल्ट और मृत्तिका की मात्रा लगभग समान होती है। यह चमकीली और लचीली होती है। शुष्क मृदा को दबाने पर बनी आकृति को सावधानीपूर्वक रखने पर वह ज्यों की त्यों बनी रहती है, और आर्द्र मृदा को मसलने पर बनी आकृति बिना टूटे यथावत रहती है। यह मृदा अच्छे जल धारण व वातन वाली है। फसल उत्पाद की दृष्टि से सर्वोत्तम मृदा मानी

जाती है। अतः इसमें सभी फसलें सफलतापूर्वक उगायी जा सकती है।

4. **सिल्ट दोमट (Silt Loam)** :– यह मृदा जब शुष्क होती है तो इसमें ढेले बन जाते है जो सरलता से टूट जाते हैं। ओट आने पर इसकी जुताई की जाए तो यह भुरभुरी और मुलायम हो जाती है। शुष्क एवं आर्द्र दोनों दशाओं में दबाने पर वांछित आकृति बनायी जा सकती है जिसे सुरक्षित रखा जा सकता है। इस मृदा में जल धारण क्षमता अच्छी होती है। यह कृषि के लिए अच्छी मृदा है।

5. **मृत्तिका दोमट (Clay Loam)** :–यह महीन कणाकार वाली मृदा है। इसमें पर्याप्त चिकनाहट होती है। मृदा में उँगलियों द्वारा दबाने पर पट्टी (Ribbon) बनती है जो सरलता से टूट जाती है। आर्द्र मृदा से स्थायी आकृति बन जाती है। जब इसकी गोलियाँ बनायी जाती है तो यह छोटे टुकड़ों में सरलता से नहीं टूटती है। इसमें धान, गन्ना की फसलें सफलतापूर्वक उगायी जा सकती है।

6. **मृत्तिका (Clay)** :– यह महीन गठन वाली मृदा होती है। जो सूखने पर कठोर आकार रहित ढेलों का निर्माण करती है। आर्द्र अवस्था में चिपचिपी और अधिक लचीली रहती है। उँगलियों के बीच में दबाने पर बहुत लम्बी पट्टी का निर्माण होता है। इस मृदा में हल भारी चलता है। इसलिये इसे भारी मृदा कहते है। यह देर से सूखती है जल निकास ठीक नहीं रहता, फसलें देर से पकती है। जीवांश खाद के प्रयोग से इन मृदाओं में भुरभुरापन आता है। जिससे वायु संचार बढ़ता है और जलधारण क्षमता में भी सुधार होता है।

7. **सिल्ट (Silt)** :– कृषि के लिए इसके कणवर्ग उपयोगी है। इस मृदा में फसलों की अच्छी उपज होती है।

मृदा गठन का महत्व (Importance of Soil Texture):– मृदा कणाकार उचित होने पर कृषि कार्य ठीक प्रकार से होते है। मृदा कणाकार भूमि की उर्वरा शक्ति को बनाये रखता है और फसलों को पोषण देने में सहयोग करता है। मृदा में उपयुक्त नमी रहती है। उचित वायु संचार होता है, उचित मृदा ताप रहता है मृदा मुलायम एवं भुरभुरी रहती है। जलधारण क्षमता अच्छी रहती है।

मृदा में उपस्थित प्राथमिक कण बालू, सिल्ट एवं मृत्तिका है। प्राकृतिक रूप से संयुक्त होकर एक प्राथमिक समुच्चय का निर्माण करते हैं। इन प्राथमिक कणों और समुच्चयों (Aggregates) की किसी प्रतिरूप में व्यवस्था को मृदा संरचना कहा जाता है। प्राकृतिक रूप से बने पुंज को ढेला (Clod) कहते हैं।

मृदा संरचना (Soil Structure)– मृदा कणों के व्यवस्थापन को मृदा संरचना कहा जाता है।

मृदा संरचना के निम्नलिखित प्रमुख चार प्रकार है–

मृदा संरचना के प्रकार (Types of Soil Structure)

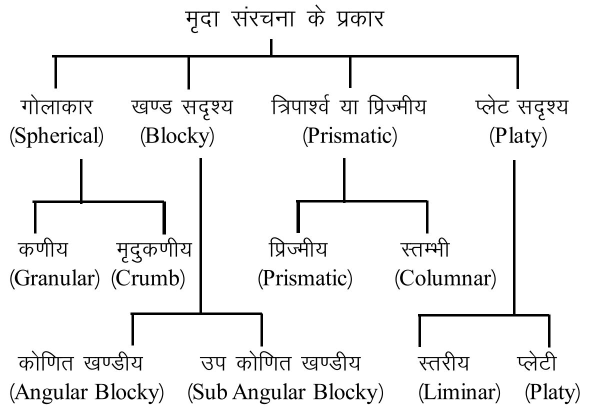

(अ) गोलाकार संरचना (Spherical Structure) – इस संरचना में सभी पैड्स (कणपुंज) गोलाकार रूप में होते हैं। कण समूह के फलक वक्रित, अनियमित होते हैं और सभी अक्षों की लम्बाई समान होती है। गोलाकार संरचना को उनकी सरन्ध्रता के आधार पर दो प्रकार से विभाजित किया जाता है–

1. **कणीय (Granular)** – इनके पैड्स कम रन्ध्रीय होते हैं। कण संरचना अनेक प्राथमिक कणों से बनती है और पैड्स 1–10 मिमी आकार के होते हैं। जिन मृदाओं में अधिक जीवांश पदार्थ होते हैं उनमें यह संरचना पायी जाती है।

2. **मृदुकणीय (Crumb)** – इसके पैड्स 1–5 मिमी आकार के होते हैं। पैड्स में अधिक रन्ध्र होने के कारण सरलता से टूट जाते है।

(i) मृदु कणीय (ii) कणीय

(अ) गोलाकार संरचना

चित्र संख्या 3.3

(ब) खण्ड सदृश्य (Blocky) –इस संरचना में कण घनाकार में व्यवस्थित होते हैं अर्थात् पैड्स की लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई तीनों अक्षों में समान होती है। संरचना

को उनके कोणों की संरचना एवं दृढ़ता के आधार पर दो प्रकार से विभाजित किया जाता है–

1. **कोणित खण्डीय (Angular blocky)** – इस संरचना में पैड्स के फलक चपटे, कोण व भुजाएँ समुचित विकसित एवं तेज कोणीय होते हैं तथा पैड्स 5–50 मिमी आकार के होते हैं।

2. **उप कोणित खण्डीय (Sub-angular blocky)** – इसमें कोण व भुजाएँ टूट फूट कर घिस जाती है और पैड मिश्रित गोलाकार रूप में आ जाता है। इस प्रकार की संरचना का विकास अवमृदा में पौधों की जड़ों के प्रवेश, मृदा वातन एवं जल विकास पर निर्भर करता है।

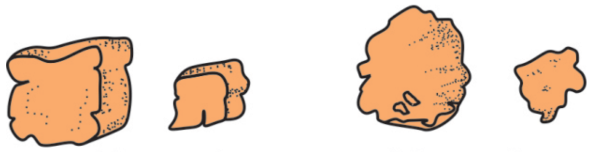

चित्र संख्या 3.3

(स) त्रिपार्श्व सदृश्य (Prismatic) – इस संरचना में पैड्स की ऊर्ध्वाकार अक्ष दो क्षैतिज अक्षों की अपेक्षा लम्बी होती है। ऊर्ध्वाकार भुजा तेज, चमकदार पृष्ठों एवं चपटे किनारे वाली होती है। शुष्क व अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों की अव मृदाओं के सस्तरों में यह संरचना पाई जाती है। यह निम्नलिखित दो प्रकार की होती है–

1. **प्रिज्मीय (Prismatic)** – इस संरचना में प्रिज्म के शीर्ष समतल और भुजाएँ तीव्र धार वाली होती है। पैड्स 10–100 मिमी आकार के होते है।

2. **स्तम्भी (Columnar)** – इसमें कण पुजों के शीर्ष चौरस और किनारे गोल, टोपीनुमा आकार के होते है। तथा इनक पैड्स 10–100 मिमी आकार के होते है।

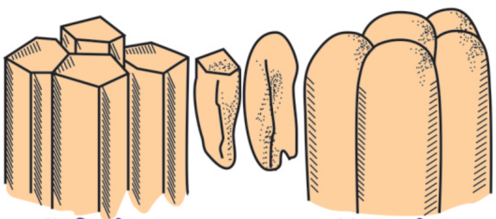

चित्र सं. 3.4

(द) प्लेट सदृश्य (Platy) – इस प्रकार की संरचना में कण पुंजों का क्षैतिज अक्ष ऊर्ध्वाकार अक्ष की अपेक्षा अधिक विकसित होता है। तथा चपटे दबे हुए दिखाई पड़ते हैं। कण पुजों की मोटाई के आधार पर इस संरचना के दो प्रकार हैं।

1. **स्तरीय (Liminar)** – स्तरीय संरचना के पैड्स की मोटाई लगभग 1–2 मिमी तक होती है। यह पतली चिपकी हुई होती है।

2. **प्लेटीय (Platy)** – इस संरचना में पैड्स की मोटाई लगभग 2–10 मिमी तक होती है।

(द) प्लेट सदृश

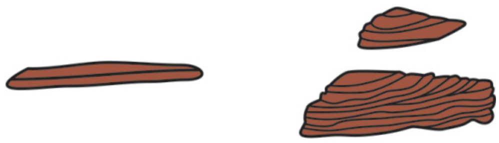

चित्र सं. 3.5

मृदा संरचना को प्रभावित करने वाले कारक

1. **जलवायु (Climate)** – जिन स्थानों पर वर्षा अधिक और तीव्रता से होती है वहाँ पर मृदा संरचना के कण वर्षा की बूंदों के प्रहार से चकनाचूर होकर बिखर जाते हैं। रेगिस्तान में मृदा कणों के सम्मुचय नहीं बन पाते हैं अर्द्ध शुष्क तथा अर्द्ध आर्द्र क्षेत्रों में समुच्चयों की प्रतिशतता अधिकतम होती है।

ताप सूक्ष्म जीवों की क्रियाशीलता को प्रभावित करता है। अनुकूल ताप पर जीवाणुओं की सक्रियता से कार्बनिक पदार्थों का शीघ्रता से विच्छेदन होता है और समुच्चय निर्माण भी प्रभावित होता है।

2. **पक्षान्तर भीगने एवं सूखने की क्रिया का प्रभाव (Effect of alternate wetting and drying)** – पक्षान्तर भीगने और सूखने की क्रिया से मृदा के ढेले टूटकर दानेदार बन जाते हैं जिससे इनके बीच रन्ध्रावकाश बन जाते हैं सूखने की क्रिया असमान होने के कारण मृदा पिण्ड में टेढ़ी–मेढ़ी दरारें बन जाती हैं।

3. **जड़ों का प्रभाव (Root effect)** – पौधों की जड़ों से एक प्रकार का लसदार पदार्थ निकलता है जो मृदा कणों को बांधने का कार्य करता है। जड़ों के मृदा में प्रवेश करने

से मृदा सरन्ध्रता बढ़ती है। जिससे संरचना अच्छी बन जाती है।

4. **फसलों का प्रभाव (Crop effect)** – फसल के पौधों की पत्तियाँ एव तने वर्षा की तीक्ष्ण बूंदों के प्रहार से मृदा संरचना की सुरक्षा करते हैं। इस प्रकार फसल मृदा संरचना को बनाये रखने में सहायता करती है।

5. **कार्बनिक पदार्थ का प्रभाव (Effect of organic matter)** – कार्बनिक पदार्थ सरन्ध्री होने के कारण क्ले मृदा की सुघट्यता को कम कर देता है। बलुई मृदा में जल धारण क्षमता में वृद्धि करता है तथा मृदा कणों को बाँधने का कार्य करता है। इस तरह कार्बनिक पदार्थ मृदा में मिलाने से मृदा संरचना में सुधार होता है।

6. **कर्षण क्रियाओं का प्रभाव (Effect of Tillage)** – जुताई गुड़ाई तथा अन्य कर्षण क्रियाओं से मृदा के सभी अवयव भली प्रकार मिश्रित हो जाते हैं जिससे मृदा में विरलता आ जाती है और मृदा वातन अच्छा हो जाता है। एक ही गहराई पर बार बार कर्षण क्रिया करने से मृदा में कठोर परत बन जाती है और उसमें जल प्रवेश कठिन हो जाता है जिससे मृदा संरचना पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

7. **सिंचाई का प्रभाव (Effect of irrigation)** – सिंचाई के जल के साथ अनेक खनिज लवण मृदा में पहुंचते हैं जिनके आपेक्षिक अनुपात से मृदा संरचना प्रभावित होती है। जैसे यदि जल में कैल्सियम की मात्रा अधिक होती है तो मृदा संरचना में सुधार होता है। और सोडियम लवण की अधिकता मृदा संरचना को खराब कर देती है।

8. **जल निकास का प्रभाव (Effect of drainage)** – मृदा में जल निकास की सुविधा न हो तो जल भराव से वायु के लिए स्थान नहीं रह पाता और पौधों की जड़ों का समुचित विकास नहीं होता जिससे मृदा संरचना खराब हो जाती है। उचित जल निकास होने पर अतिरिक्त जल बाहर निकल जाता है और मृदा संरचना ठीक बनी रहती है।

मृदा संरचना का महत्व (Importance of Soil Structure) – मृदा संरचना मृदा में उपस्थित जल और वायु पर नियन्त्रण करती है और मृदा के कई गुणों को प्रभावित करती है। मृदा संरचना का जल की अन्तःस्रवण दर पर प्रभाव चित्र सं. 3.6 के द्वारा दर्शाया गया है।

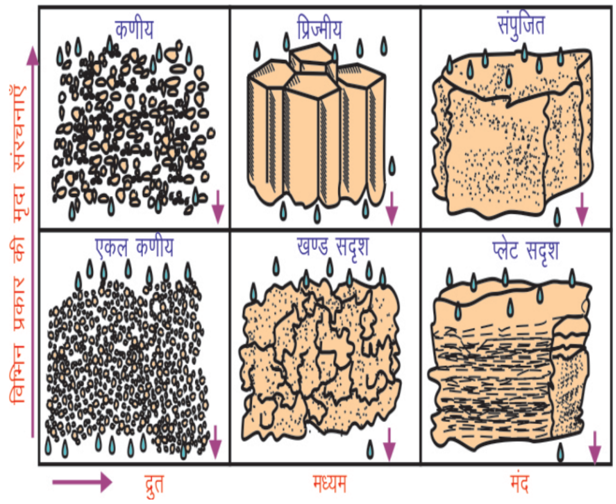

चित्र सं. 3.6

कणीय व एकल कणीय मृदाओं में तीव्र, प्रिज्मीय एवं खण्ड सदृश्य मृदाओं में मध्यम तथा सपुंजित एवं प्लेटी मृदाओं में जल स्रवण पर मन्द होती है।

मृदा संरचना जल एवं वायु के स्तर, आर्द्रता, अन्तःस्रवण, वातन सरन्ध्रता, मृदा अपरदन तथा ऊष्मा स्थानान्तरण को प्रभावित करती है। अतः मृदा संरचना को उर्वरता की कुंजी कहा जाता है।

मृदा जल (Soil Water)

मृदा कणों के बीच रन्ध्रावकाशों में उपस्थित जल मृदा जल कहलाता है। पौधों का लगभग 70–95 प्रतिशत जल से निर्मित होता है यह विलेय ऑक्सीजन को मृदा में अन्दर पहुँचाता है। प्रकाश संश्लेषण की क्रिया में सक्रिय भूमिका निभाता है। मृदा को अधिक गर्म एवं अधिक ठण्डी नहीं होने देता है। यह सर्व व्यापक विलायक के रूप में अधिकांश आवश्यक पोषक तत्वों को विलयन के रूप में पौधे के विभिन्न अंगों तक पहुँचाने का कार्य करता है। इस प्रकार समस्त भौतिक एवं जैव रासायनिक क्रियाओं में जल का महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

मृदा जल का भौतिक वर्गीकरण – मृदा जल को भौतिक ढंग से निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया गया है–

1. आर्द्रताग्राही जल (Hygroscopic Water)
2. केशीय जल (Capillary Water)
3. गुरूत्वाकर्षण अथवा स्वतन्त्र जल (Gravitational or Free water)

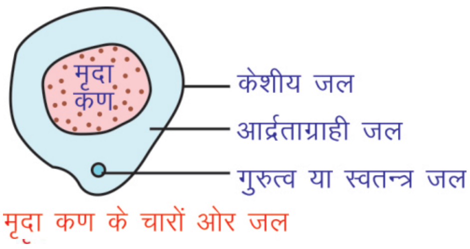

चित्र सं. 3.7

1. **आर्द्रताग्राही जल** – इस जल को शुष्क मृदा वायुमण्डलीय जल वाष्प को अवशोषित करके ग्रहण करती है। इसलिए इसे आर्द्रताग्राही जल कहते हैं। यह जल पतली झिल्ली के रूप में मृदा कणों के चारों ओर आसंजन बल के साथ दृढ़ता से जुड़ा रहता है। पौधे इसका उपयोग करने में अक्षम रहते हैं। अतः कृषि उत्पादन में इसका कोई उपयोग नहीं होता है।

2 **केशीय जल** – केशीय जल मृदा कणों पर पृष्ठीय बलों द्वारा धारित रहता है। आर्द्रताग्राही जल के विपरीत केशीय जल के अणु स्वतन्त्र, गतिशील और द्रव अवस्था में रहते हैं। इसे गुरुत्व बलपृथक नहीं कर सकता किन्तु पौधों की जड़ें इसे आसानी से अवशोषित कर लेती हैं। इस जल को सुलभ जल भी कहते हैं। अतः यह जल कृषि उत्पादन की दृष्टि से सर्वोत्तम माना जाता है।

केशीय जल की मात्रा को प्रभावित करने वाले कारक –

मृदा में केशीय जल को प्रभावित करने वाले कारक निम्नलिखित हैं :–

1. **पृष्ठ तनाव** – केशीय जल की मात्रा पृष्ठ तनाव के बढ़ने के साथ बढ़ती है और तनाव कम होने पर केशीय जल की मात्रा में कमी होती है।

2. **मृदा कणाकार** – महीन कणों वाली मृदा में केशिकाओं की संख्या अधिक होती है इस कारण मृत्तिका मृदा में बलुई मृदा की अपेक्षा अधिक मात्रा में केशीय जल रहता है।

3. **मृदा संरचना** – जिन मृदाओं में कणीय संरचना होती है उनमें एकल संरचना वाली मृदाओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में केशीय जल होता है।

4. **जीवांश पदार्थ** – मृदा में जीवांश की अधिक मात्रा होने पर केशीय जल की मात्रा अधिक होती है क्योंकि ह्यूमस में पर्याप्त केशिका क्षमता पायी जाती है।

केशीय जल की गति (Movement of capillary water) – केशिका जल मृदा कणों के चारों ओर बीच में पतली झिल्ली बनाता है यह झिल्ली एक कण से दूसरे कण की ओर लगातार बढ़ती है। दो कणों के परस्पर मिलने पर उनके बीच का रिक्त स्थान केशिका जल से भर जाता है। जल की यह गति दोनों जलीय झिल्लियों द्वारा विकसित बल एक समान होने तक होती रहती है। यह गति कई झिल्लियों में होती रहती है जिससे जल एक कण से दूसरे कण की ओर गतिशील होता रहता है मृदा द्वारा जल को अधिकतम मात्रा में धारण करने की क्षमता को अधिकतम केशीय क्षमता कहते है।

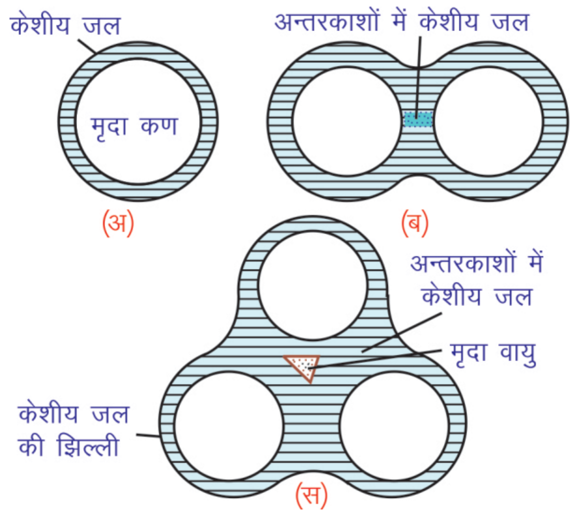

चित्र स. 3.8

3. **गुरूत्वाकर्षण अथवा स्वतन्त्र जल** – मृदा में उपस्थित अधिकतम केशीय क्षमता से अधिक जल मृदा के दीर्घ रन्ध्रों में भर जाता है। यह जल पृथ्वी के गुरूत्व के प्रभाव में आ जाता है। इस जल को गुरूत्वाकर्षण जल या स्वतन्त्र जल कहते हैं। जब गुरूत्व जल मृदा में नीचे की तरफ गति करता है तो उसे अन्तःस्रवण कहते हैं।

जल धारण क्षमता (water holding capacity) – मृदा द्वारा जल की अधिकतम मात्रा को धारण करने की क्षमता को जल धारण क्षमता कहते हैं। यह गुरूत्वाकर्षण जल के विरूद्ध धारित जल की अधिकतम मात्रा को प्रदर्शित करती है।

क्षेत्र क्षमता (Field capacity) – जल की वह मात्रा जिसको मृदा जल निकास की उचित व्यवस्था होते हुए भी गुरूत्वाकर्षण बल के विरूद्ध नीचे जाने से रोक देती है। इस अवस्था में मृदा के द्वारा जो जल धारण किया जाता है उसे

क्षेत्र क्षमता कहते हैं।

मुरझान गुणांक (Wilting co-effient) – जब मृदा में नमी की मात्रा इतनी कम हो जाती है कि पौधों की जड़े मृदा कणों से जल का अवशोषण नहीं कर पाती है। पौधा वाष्पोत्सर्जन द्वारा हो रही जल की हानि की पूर्ति करने में असमर्थ रहता है। पौधे के अन्दर स्फीर्ति (Turgidity) कम होकर सूखना प्रारम्भ हो जाता है। इस अवस्था में मृदा में पानी देने पर पौधा पुनः स्फीर्ति लाकर जीवित होने लगता है तो उसे अस्थायी म्लानि बिन्दु कहते हैं। और यदि पौधा पुनः स्फीर्ति प्राप्त करने में असमर्थ रहकर मुरझा जाता है तो उसे स्थायी म्लानि बिन्दु कहते हैं। ऐसी अवस्था में मृदा में उपस्थित जल की प्रतिशत मात्रा को मुरझान गुणाक कहते हैं।

असलांग बिन्दु (Sticky point) – मृदा में नमी की वह प्रतिशत जिस पर मृदा और लेप (Paste) किसी दूसरे पदार्थ से चिपकना बन्द कर देता है, असलांग बिन्दु कहलाती है।

मृदा जल को प्रभावित करने वाले कारक

1. **मृदा गठन** –बड़ें कणों में बड़े आकार की रन्ध्र नलिकाएँ होने से मृदा जल का प्रभाव तीव्र होता है। छोटे कण वाली मृदा में आर्द्रताग्राही जल का अधिशोषण अधिक होता है। और इनमें केशीय जल की द्रुतगति होती है।

2. **आर्द्रता** – वायु मण्डल में अधिक आर्द्रता होने पर मृदाओं में आर्द्रताग्राही जल की मात्रा बढ़ जाती है। मानसून के दिनों में शुष्क दिनों की अपेक्षा मृदा में आर्द्रताग्राही जल की प्रतिशत मात्रा अधिक होती है। वर्षा जब मन्द गति से होती है तो यह जल केशीय जल के रूप में पौधों के काम आता है। अधिक वर्षा होने पर जल समस्त रन्ध्रावकाशों को संतृप्त करके गुरूत्वाकर्षण के कारण भूमि की नीचे की तहों में चला जाता है और यह जल पौधों के लिए अनुपयोगी रहता है।

3. **मृदा संरचना** – मृदा के कण पास–पास व्यवस्थित होने पर जल की अन्तःस्रवण गति कम होती है। गुरूत्व जल का अन्तःस्रवण प्लेटी एवं सपुंजित मृदाओं में कम होता है। मृत्तिका मृदाओं में प्रायः जलाक्रान्त स्थिति बनी रहती है। अच्छी दानेदार मृदाओं में केशीय जल की पर्याप्त मात्रा पौधों को उपलब्ध रहती है।

4. **तापमान** – तापमान में कमी होने पर केशीय जल की मात्रा में वृद्धि होती है और तापमान में वृद्धि होने पर केशीय जल की मात्रा में कमी आ जाती है।

5. **जीवांश पदार्थ** – मृदा में जीवांश पदार्थ की उपस्थिति से केशीय क्षमता में वृद्धि होती है। अतः अधिक जीवांश पदार्थ वाली मृदा की जलधारण क्षमता अधिक होती है।

मृदा ताप (Soil Temperature)

सूर्य के विकिरण, गर्म वर्षा, रासायनिक और जैविक प्रक्रमों से मृदा में उपस्थित सम्पूर्ण उष्णता को मृदा ताप कहते है। मृदा ताप आर्द्रता, वातन संरचना, सूक्ष्म जीव, जीवांश पदार्थो के अपघटन तथा पोषक तत्वों की उपलब्धता को प्रभावित करता है। अतः मृदा ताप पौधों की वृद्धि के लिए एक महत्वपूर्ण कारक है।

मृदा ताप का महत्व –

1. **बीजों का अंकुरण एवं पौधों की वृद्धि** :– बीज बोने से फसल पकने तक एक निश्चित तापमान की आवश्यकता होती है। मृदा ताप बीजों के अंकुरण के लिए उपयुक्त तापमान अलग–अलग होता है। तापमान कम या अधिक होने पर बीज कम संख्या में अथवा मंद गति से अंकुरित होते हैं। इसी प्रकार पौधों की वृद्धि के लिए भी उपयुक्त मृदा ताप आवश्यक होता है।

2. **जड़ों की वृद्धि** :– पौधों की जड़े अनुकूल ताप पर अच्छी प्रकार से वृद्धि करती है। निर्धारित ताप से कम या अधिक ताप पर जड़ों की वृद्धि कम होती है और अन्त में रूक जाती है।

3. **मृदा से पोषक तत्व और जल अवशोषण** :– मृदा से पोषक तत्व और जल अवशोषण करने के लिए पौधों को अनुकूल ताप की आवश्यकता होती है। इसमें दिन के समय ताप का विशेष महत्व है क्योंकि दिन में अधिक वाष्पन होने से पौधों में अनुकूल आन्तरिक जल स्तर स्थापित करना आवश्यक होता है।

4. **उपज** :– इष्टतम मृदा ताप से कम या अधिक ताप होने पर फसलों की उपज प्रभावित होती है। उदाहरण के तौर पर आलू में कन्द बनने के लिए मृदा में उपयुक्त तापमान 17 डिग्री सेल्सियस होता है तथा 29 डिग्री सेल्सियस से अधिक मृदा ताप होने पर कन्द बनना बन्द हो जाता है।

5. **मृदा जीवाणुओं की क्रियाशीलता** :– मृदा में पाये जाने वाले सूक्ष्म जीवों की क्रियाशीलता के लिए एक निश्चित ताप (लगभग 50^0F से 104^0F) की आवश्यकता होती है। मृदा में अनेकों प्रकार के सूक्ष्म जीव रहते है जो पौधों की वृद्धि के लिए आवश्यक माध्यम तैयार करते है।

6. **कार्बनिक पदार्थो का विच्छेदन** :– जीवांश पदार्थो का अपघटन भी मृदा ताप द्वारा नियन्त्रित रहता है। सामान्यतः कार्बनिक पदार्थो का विच्छेदन 45 डिग्री सेल्सियस से 98.6 डिग्री सेल्सियस के बीच होता है। 20 डिग्री सेल्सियस से 40 डिग्री सेल्सियस के बीच अमोनिया गैस तीव्रगति से उत्पन्न होती है।

मृदा ताप को प्रभावित करने वाले कारक :– मृदा ताप को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन निम्नलिखित है –

1. **मृदा की प्रकृति (Nature of soil)**:– मृदा, खनिज पदार्थ एवं जीवांश पदार्थ से मिलकर बनी होती है। खनिज पदार्थो की विशिष्ट ऊष्मा जीवांश पदार्थो की अपेक्षा कम होती है। इसलिए खनिज मृदायें जीवांश मृदाओं की अपेक्षा शीघ्रता से ताप ग्रहण कर लेती है। छोटे कण वाली मृदा में जल की मात्रा अधिक होती है जिससे वे मंदगति से ताप ग्रहण करती है। इसी प्रकार खराब संरचना वाली मृदायें शीघ्रता से गर्म हो जाती है।

2. **मृदा का रंग (Colour of Soil)**:– गहरे रंग वाली मृदा में सूर्य से ताप अवशोषण की क्षमता अधिक होती है जिससे काली, भूरी मृदायें हल्कें रंग की मृदाओं की अपेक्षा शीघ्रता से गर्म हो जाती है। हल्का रंग ताप के अधिकतर भाग को वायुमण्डल में परावर्तित कर देता है। यही कारण है कि मध्य राजस्थान की मृदायें दक्षिणी राजस्थान की काली मृदा की अपेक्षा कम गर्म होती है।

3. **मृदा आर्द्रता (Soil Humidity)**:– जल का विशिष्ट ताप अधिक होता है इसलिए आर्द्र मृदायें शुष्क मृदाओं की अपेक्षा मन्द गति से गर्म होती है।

4. **वनस्पतिक आच्छादन (Vegetative Cover)**:– वनस्पति आच्छादित मृदायें पड़ती मृदाओं की अपेक्षा कम ताप अवशोषित करती है। साथ ही ताप की हानि कम होने से ये मृदायें शीतल होने से बच जाती हैं। अतः जिन मृदाओं पर घनी वनस्पति होती है वे गर्मियों में ठण्डी तथा सर्दियों में गर्म रहती है।

5. **भूमि का ढाल (Slope of land)**:– उत्तरी गोलार्द्ध में सूर्य की किरणें दक्षिणी ढाल पर लम्बवत् पड़ती है जिससे वहाँ की मृदायें शीघ्र गर्म हो जाती है। और उत्तरी ढाल पर स्थित मृदायें अपेक्षाकृत कम गर्म होती है।

6. **जलवायु (Climate)**:– ध्रुवों की ओर स्थित मृदायें भूमध्य रेखा, कर्क रेखा एवं मकर रेखा पर स्थित मृदाओं की अपेक्षा ठण्डी होती है क्योंकि जैसे–जैसे ध्रुवों से भूमध्य रेखा की तरफ बढ़ते है, मृदा ताप में वृद्धि होने लगती है। अधिक वर्षा वाले क्षेत्र की मृदायें कम वर्षा वाले क्षेत्रों की तुलना में ठण्डी रहती है।

7. **ऋतुएँ (Seasons)**:– वर्ष में ऋतु परिवर्तन के साथ मृदा ताप भी परिवर्तित होता रहता है क्योंकि शीत ऋतु में सूर्य के विकिरण से कम ऊष्मा और ग्रीष्म ऋतु में अधिक ऊष्मा प्राप्त होती है।

मृदा वायु (Soil Air)

मृदा में उपस्थित सूक्ष्म जीवों, जीवित पौधों की जड़ों को श्वसन क्रिया के लिए ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। बहुत सी फसलों और जीवाणुओं की क्रियाशीलता मृदा में ऑक्सीजन की पर्याप्त मात्रा न होने से प्रभावित होती है।

"वह मृदा जिसमें उगे पौधों तथा सूक्ष्म जीवों के लिए उनकी आवश्यक उपापचयी क्रियाओं की दर को प्रोत्साहित करने के लिए गैसें उचित अनुपात एवं प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो वातित मृदा कहलाती है।"

मृदा वातन (Soil Aeration):– मृदा वायु निरन्तर वायुमण्डलीय वायु के सम्पर्क में रहती है। यह मृदा रन्ध्रावकाशों से वायुमण्डल और वायुमण्डल से मृदा रन्ध्रावकाशों में लगातार गतिशील अवस्था में रहती है। मृदा में वायु के इस निरन्तर परिभ्रमण के फलस्वरूप गैसों के नवीनीकरण को 'मृदा वातन' कहते है।

मृदा वायु का संगठन (Composition of Soil air) – मृदा वायु में मुख्य रूप से नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन–डाइ–ऑक्साईड व जल वाष्प होती है। किन्तु मृदा वायु का संगठन वायुमण्डलीय वायु से निम्न बातों में भिन्न होता है।

(i) मृदा वायु में CO_2 की मात्रा अधिक होती है।
(ii) मृदा वायु जलवाष्प से संतृप्त रहती है।
(iii) इसमें ऑक्सीजन तथा नाइट्रोजन की मात्रायें वायु से कम होती है।

मृदा वायु के संगठन को प्रभावित करने वाले कारक :–

निम्नलिखित प्रमुख कारक मृदा वायु को प्रभावित करते है :–

1. **मृदा ताप (Soil Temperature)**:– दिन के समय मृदा वायु गर्म होकर फैलने लगती है और वायुमण्डल में चली जाती है। रात्रि के समय जब मृदा ताप में गिरावट होती है तो मृदा वायु के सिकुड़ने से वायुमण्डलीय वायु मृदा में प्रवेश कर जाती है। तापमान के घटने बढ़ने से मृदा में विभिन्न रासायनिक एवं जैविक क्रियाओं की गति प्रभावित होती है। जिससे मृदा वायु भी प्रभावित होती है।

2. **अवमृदा एवं पृष्ठीय मृदा (Sub-Soil & Top Soil)**:– पृष्ठीय मृदाओं की अपेक्षा अब मृदा में ऑक्सीजन की कमी पायी जाती है और कार्बन–डाई–ऑक्साइड की मात्रा अधिक होती है। रन्ध्रावकाश तथा औसत रन्ध्रों का आकार नीचे के संस्तरों में सामान्यतः कम होता है।

3. **फसलें (Crops)**:– फसल श्वसन क्रिया द्वारा मृदा वायु में ऑक्सीजन की मात्रा को कम करती है और कार्बन–डाइ–ऑक्साइड की मात्रा को बढ़ाती है। खड़ी फसल में कार्बन–डाइ–ऑक्साइड की मात्रा परती मृदा की अपेक्षा लगभग 10 गुनी अधिक पायी जाती है।

4. **जीवांश पदार्थ (Organic matter)**:– जीवांश पदार्थ की मात्रा से मृदा वायु प्रभावित होती है। अधिक वातन वाली बलुई मृदा में शुष्क जलवायु के अन्तर्गत जीवांश पदार्थ शीघ्रता से ऑक्सीकृत हो जाता है।

ऋतु परिवर्तन (Seasonal variations):– ग्रीष्म ऋतु में मृदा शुष्क होती है और उसमें गैसों का विनियम अधिक होता है। जिससे मृदा वायु में ऑक्सीजन की मात्रा अधिक एवं कार्बन–डाइ–ऑक्साइड की मात्रा कम हो जाती है। इसके विपरीत मृदा में अधिक आर्द्रता होने पर मृदा वायु में ऑक्सीजन की मात्रा कम और कार्बन–डाइ–ऑक्साइड की मात्रा बढ़ जाती है।

मृदा वायु का महत्व (Importance of soil air):– मृदा वायु के समुचित संचार से ही पौधों की अच्छी वृद्धि होती है। उचित वायु संचार न होने पर पौधों में जड़ों की संख्या कम हो जाती है और जड़ें असामान्य आकार की हो जाती है। पौधों द्वारा पोषक तत्वों एवं जल का अवशोषण प्रभावित होता है। कुछ विषैले अकार्बनिक पदार्थ बनने के कारण पौधों की वृद्धि कम हो जाती है। जब मृदा में ऑक्सीजन की पूर्ति 10 प्रतिशत से कम होती है तो जड़ों का विकास कम हो जाता है और 5 प्रतिशत पर पूर्णतः रूक जाता है। इसी प्रकार मृदा वायु में कार्बन–डाइ–ऑक्साइड का 1 प्रतिशत से अधिक सान्द्रण होने पर पौधों की जड़ों पर जहरीला असर होता है और कार्बन–डाइ–ऑक्साइड की मात्रा 10 प्रतिशत पहुँचने पर पौधों की जड़ें मर जाती है।

मृदा रन्ध्रावकाश (Pore space)

"मृदा द्रव्यमान का वह आयतन जो मृदा कणों या ठोस पदार्थों द्वारा घिरा हुआ नही होता रन्ध्रावकाश कहलाता है। इस रन्ध्रावकाश में वायु तथा जल भरा रहता है। इसी रन्ध्रावकाश में पौधों की जड़े प्रवेश करके वृद्धि करती है।"

रन्ध्रावकाश का आयतन :– मृदा गठन, संरचना और जीवांश पदार्थ की मात्रा के अनुसार रन्ध्रावकाश के आयतन में परिवर्तन होता रहता है। बड़े कणों वाली मृदा में महीन कणों वाली मृदा की अपेक्षा रन्ध्रावकाश कम होता है। चित्र 3.9 (अ) तथा (ब) में गोलों की एक जैसी संरचना रखते हुए, यदि गोले का व्यास 1 सेमी के स्थान पर 1/2 सेमी कर दिया जाये तो उसी आयतन में 8 गोलों के स्थान पर 32 गोले आ सकते है। अतः छोटे कणों के बीच कुल रन्ध्रावकाशों का आयतन बडे कणों की तुलना में अधिक होता है। इसी कारण मृत्तिका मृदाओं में रन्ध्रावकाश अधिक तथा एक घन सेमी शुष्क जल का द्रव्यमान बालू एवं बलुई मृदाओं में कम होता है।

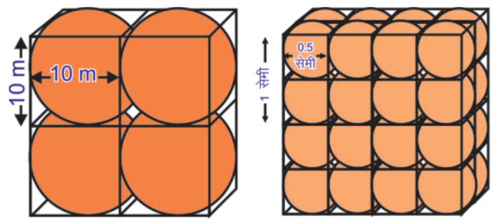

(अ) मोटे कणाकार वाली मृदा (ब) महीन कणाकार वाली मृदा

चित्र सं. 3.9

मृदा रन्ध्रावकाश प्रतिशतता :– मृदा के कुल आयतन का वह प्रतिशत भाग जो रिक्त होता है। मृदा रन्ध्रावकाश प्रतिशतता कहलाता है। शुष्क मृदा में रन्ध्रावकाश वायु से और आर्द्र मृदा में जल तथा वायु दोनों से भरे हुए रहते हैं। जब मृदा जल में संतृप्त होती है तो रन्ध्रावकाशों में वायु के स्थान पर जल भर जाता है। अतः मृदा में जल और वायु के आयतन में परिवर्तन होता रहता है।

मृदा रन्ध्रावकाश प्रतिशतता की गणना निम्नलिखित सूत्र द्वारा की जा सकती है–

सूत्र– मृदा रन्ध्रावकाश का प्रतिशतता

$$= 100 - \frac{\text{स्थूल घनत्व}}{\text{कण घनत्व}} \times 100$$

इसको पूर्णरूप से समझने के लिए स्थूल घनत्व और कण घनत्व की जानकारी होना आवश्यक है।

स्थूल घनत्व (Bulk density) शुष्क मृदा के इकाई आयतन के द्रव्यमान को मृदा का स्थूल या आभासी घनत्व कहते है।

मृदा का स्थूल घनत्व =

$$\frac{\text{एक घन सेमी. शुष्क मृदा का द्रव्यमान}}{\text{एक घन सेमी. जल का द्रव्यमान}}$$

कण घनत्व (Particle density) रन्ध्रावकाश रहित शुष्क मृदा के प्रति इकाई आयतन के द्रव्यमान को कण घनत्व या वास्तविक घनत्व कहते है। इसे ग्राम प्रति घन सेमी में व्यक्त किया जाता है।

रन्ध्रावकाश को प्रभावित करने वाले कारक – रन्ध्रावकाश को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक निम्नलिखित है।

1. **मृदा कणाकार (Soil Texture) :–** मृदा में महीन कण अधिक होने पर उसमें संरन्ध्रता बढ़ जाती है। मृत्तिका में रन्ध्रावकाश सूक्ष्म आकार के होते है और बालू मृदा में रन्ध्रावकाश सबसे बड़े तथा दोमट मृदा में रन्ध्रावकाश की प्रतिशतता मध्यम होती है।

2. **मृदा संरचना (Soil Structure):–** गोलाभ संरचना में अन्य संरचनाओं की अपेक्षा संरन्ध्रता अधिक होती है। और खण्ड सदृश्य संरचना में रन्ध्रावकाश प्रतिशत अन्य संरचनाओं की अपेक्षा कम होता है।

3. **मृदा परिच्छेदिका (Soil Profile)–** मृदा के ऊपरी संस्तरो में रन्ध्रावकाश प्रतिशत सर्वाधिक होती है और नीचे के संस्तरों की तरफ बढ़ने पर कम होती जाती है। इसका मुख्य कारण ऊपरी सस्तर "ए" में जीवांश पदार्थ की मात्रा अधिक होना है। निचले सस्तर "बी" तथा "सी" तथा अपेक्षाकृत ठोस होते है।

4. **मृदा में जीवांश पदार्थ की मात्रा (Organic matter in Soil):–** मृदा में जीवांश पदार्थ की वृद्धि के साथ रन्ध्रावकाश प्रतिशत में वृद्धि होती है क्योंकि जीवांश पदार्थ रन्ध्रीय प्रकृति का होता है और जीवांश पदार्थ की मात्रा में कमी होने पर रन्ध्रावकाश प्रतिशतता कम हो जाती है। अतः जीवांश पदार्थ की मात्रा और रन्ध्रावकाश प्रतिशत एक दूसरे से सीधा सम्बन्ध रखते है।

5. **जैविक सक्रियता (Biological Activity) :–** केचुए, सूक्ष्म जीव तथा अन्य जन्तु मृदा में रन्ध्रावकाशों की संख्या में वृद्धि करते रहते हैं। सूक्ष्म जीवों द्वारा जीवांश पदार्थों का विघटन होता रहता है और मृदा संरचना दानेदार बनती है जिससे मृदा रन्ध्रावकाशों में वृद्धि होती है।

अम्लीय व लवण प्रभावित मृदाओं का प्रबन्धन

अम्लीय मृदा (Acidic Soil)– "वह मृदा जिसमें हाइड्रोक्सिल (OH) आयन्स की अपेक्षा हाइड्रोजन (H^+) एवं एल्यूमिनियम (Al^{3+}) आयन्स की प्रधानता होती है अम्लीय मृदा कहलाती हैं। "

अम्लीय मृदाएँ सामान्यतः आर्द्र क्षेत्रों में पायी जाती है और इनमें जीवांश पदार्थ अधिक मात्रा में पाया जाता है।

अम्लीयता के प्रकार (Types of Acidity) – मृदा में अम्लीयता दो प्रकार की होती है।

1. **सक्रिय अम्लीयता (Active Acidity):–** मृदा विलयन में उपस्थित आयन्स के कारण उत्पन्न होने वाली अम्लीयता को सक्रिय अम्लीयता कहते है।

2. **संचित अम्लीयता (Reserve Acidity):–** जो अम्लीयता मृदा कणों पर अधिशोषित हाइड्रोजन आयन्स के कारण उत्पन्न होती है संचित अम्लता कहलाती है।

अम्लीय मृदाओं का निर्माण (Formation of Acidic Soil):– अम्लीय मृदाएँ बनने के निम्नलिखित कारण हैं :–

1. **मूल पैतृक पदार्थ की प्रकृति (Nature of Parent Material):–** जिन मृदाओं का विकास अम्लीय पैतृक पदार्थ जैसे क्वार्टज, ग्रेनाइट आदि चट्टानों से होता है। उनमें उपस्थित सिलिका जल के साथ संयोग करके आर्थो सिलिसिक अम्ल बनाता है।

2. **अधिक वर्षा द्वारा क्षारों का ह्रास :–** अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में मृदा के अम्लीय होने की सम्भावना रहती है क्योंकि मृदा कणों पर अधिशोषित घुलनशील क्षारीय आयन्स जैसे Ca^{2+}, Mg^{2+}, Na^+, K^+ आदि वर्षा के जल में घुलकर मृदा के निचले संस्तरों में चले जाते है और अपेक्षाकृत कम घुलनशील Al, Fe के यौगिक मृदा में रह जाते है। हल्की मृदाओं में भारी गठन वाली मृदाओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में क्षार पदार्थों का ह्रास होता है।

3. **अम्लीय उर्वरकों का प्रयोग (Use of Acidic Fertilizers) :–** अम्लीय प्रकृति के उर्वरक जैसे अमोनियम सल्फेट, अमोनियम नाइट्रेट आदि का उपयोग मृदा में अम्लता बढ़ाता है। ऐसे उर्वरकों के लगातार प्रयोग से मृदा अम्लीय हो जाती है।

4. **कार्बनिक पदार्थ (Organtic Matter):–** कार्बनिक पदार्थों के जैविक अपघटन से ह्यूमस का निर्माण होता है। जिसमें उपस्थित क्रियाशील समूह जैसे (-COOH) कार्बोक्सिलिक होते है। जो (H^+) हाइड्रोजन आयन्स को आकर्षित एवं पृथक कर सकते है। इस प्रकार कार्बनिक अम्ल तथा कार्बन–डाइ–ऑक्साइड की मात्रा बढ़ जाती है जो संयुक्त रूप से मृदा अम्लीयता को बढ़ाते है।

5. सूक्ष्म जीवों का प्रभाव (Micro biological Effect) :– मृदा में पाये जाने वाले विभिन्न सूक्ष्म जीवों मृदा में कार्बनिक पदार्थ के विघटन एवं नाइट्रीकरण आदि क्रियाओं के लिए जिम्मेदार होते है। इन सूक्ष्म जीवों की क्रिया के फलस्वरूप अम्लों का निर्माण होता है। मृदा कणों पर क्षारों की कमी होने पर ये अम्ल उदासीन नहीं हो पाते है और मृदा में अम्लीयता उत्पन्न करते है।

मृदा अम्लीयता का पौधो पर प्रभाव (Effect of Acidity on Plants):–

1. अधिक अम्लीय मृदाओं में पायी जाने वाली हाइड्रोजन आयन्स (H+) की अधिक सान्द्रता पौधों के लिए हानिकारक होती है।
2. जड़ों की बढ़वार रूक जाती है।
3. पौधों में कोशिका विभाजन, डी.एन.ए. निर्माण एवं श्वसन आदि क्रियाएँ प्रभावित होती है।
4. कुछ महत्वपूर्ण पोषक तत्वों जैसे P, Ca, Fe, Mn आदि का मृदा से अवशोषण रुक जाता है।
5. मृदा में सूक्ष्म जीवों की क्रियाशीलता कम हो जाती है।
6. पौधे मुरझा जाते है।

अम्लीय मृदाओं का प्रबन्ध (Reclamation of Acidic Soil)– अम्लीय मृदाओं का प्रबन्ध निम्नलिखित में से एक या अधिक विधियों द्वारा किया जा सकता है।

1. समुचित जल निकास (Proper Drainage) – अनावश्यक जल को खेत से बाहर निकालते रहने से क्षार पदार्थों का मृदा के अन्दर अपक्षालन होता है और अम्ल भी जल के साथ बह जाते है। मृदा में वायु संचार बढ़ता है जिससे मृदा में पायी जाने वाली कार्बन–डाइ–ऑक्साइड जल के साथ संयोग नहीं कर पाती और वायुमण्डल में चली जाती है। इस कारण मृदा में अम्ल का निर्माण नहीं हो पाता और मृदा अम्लीय होने से बच जाती है।

2. क्षारीय उर्वरकों का प्रयोग (Use of Basic Fertilzers)– अम्लीय मृदाओं में क्षारीय उर्वरकों जैसे सोडियम नाइट्रेट, कैल्सियम नाइट्रेट आदि का प्रयोग करने से इन उर्वरकों के क्षारीय अवशेष मृदा की अम्लीयता को कम करने में सहायता करते है। लकड़ी की राख भी इन मृदाओं में प्रयोग की जा सकती है।

3. चूना वाले पदार्थो का प्रयोग (Use of Lime Materials)– मृदा में चूना मिलाने पर Ca आयन्स के द्वारा मृदा कणों पर अवशोषित हाइड्रोजन आयन्स विस्थापित कर दिये जाते है। Ca मृदा कणों पर अधिशोषित होता रहता है। इस प्रक्रम को निम्न प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है।

$CaO + H_2O$ = $Ca(OH)_2$

$Ca(OH)_2 + CO_2$ = $CaCO_3 + H_2O$

H [मृदा कण] H + $Ca(OH)_2$ = Ca [मृदा कण] + H_2O

H [मृदा कण] H + $CaCO_3$ = Ca [मृदा कण] + $H_2O + CO_2$

4. अम्लीयता सहने वाली फसलें उगाना (Growing of Tolerant Crops to Acidity) :– अलग–अलग प्रकार की फसलों में अम्लीयता सहन करने की शक्ति अलग–अलग होती है। जैसा निम्न तालिका में दर्शाया गया है:–

कम अम्लीयता सहन करने वाली फसलें	सामान्य अम्लीयता सहन करने वाली फसलें	अधिक अम्लीयता सहन करने वाली फसलें
फूल गोभी, चुकन्दर बरसीम, रिजका	गेहूँ,जौ,जई,मक्का बाजरा, ज्वार,आलू	राई,घासें

अतः अम्लीय मृदा में उसकी प्रकृति के अनुसार फसलों का चयन करना चाहिए।

लवणीय मृदायें (Saline Soil)

ऐसी मृदा जिसके संतृप्त निष्कर्ष की विद्युत चालकता 25^0c ताप पर 4 डेसी साइमेंस प्रतिमीटर (4 ds/m) से अधिक, विनियम शील सोडियम 15 प्रतिशत से कम तथा P^H सामान्यतः 8.5 से कम होती है लवणीय मृदा कहलाती है।

इन मृदाओं की सतह पर सफेद लवण होता है इस कारण पूर्व में इन्हें सफेद क्षारीय मृदा कहा जाता था। इनमें घुलनशील लवण जैसे NaCl व H_2SO_4 की प्रधानता पायी जाती है। Ca, Mg के क्लोराइड, सल्फेट तथा बाइकार्बोनेट्स भी पर्याप्त मात्रा में होते है। हिलगार्ड ने इन्हें सफेद ऊसर का नाम दिया है।

लवणीयता का पौधों पर प्रभाव (Effect of Salt on Plants)– लवण प्रभावित मृदाओं में बीजों का अंकुरण ठीक प्रकार से नहीं होता है। मृदा में घुलनशील लवणों की अधिकता होने से मृदा घोल गाढ़ा हो जाता है और पौधों की जड़ो के अन्दर का घोल अपेक्षाकृत पतला होने से बाह्य परासरण (Exosmosis) के कारण पौधों की कोशिकाओं से जल तथा जीवद्रव्य मृदा विलयन में आने लगता है, जिससे पौधे मुरझा जाते है और मर भी जाते है। इस प्रकार

मृदा में पर्याप्त नमी हाने पर भी पौधों की वृद्धि एवं विकास रूक जाता है और पौधे सूखने लगते है।

लवणीय मृदा बनने के कारण (Causes of Formation of Sailne Soil):– निम्नलिखित प्रमुख कारणों से मृदा लवणीय बन जाती है।

1. **शुष्क एवं अर्द्धशुष्क जलवायु (Arid or Semi Arid Climate):–** शुष्क एवं अर्द्धशुष्क जलवायु वाले क्षेत्रों में अधिक वाष्पीकरण तथा कम वर्षा के कारण घुलनशील लवण मृदा में निक्षालित नहीं हो पाते और जल के वाष्पीकरण के बाद मृदा की सतह पर एकत्रित हो जाते है जिससे मृदा लवणीय हो जाती है।

2. **उच्च जल स्तर (High Water leval)–** भूमि में पाये जाने वाले जल में घुलनशील लवण अधिक मात्रा में होते है।इनकी मात्रा भौगोलिक पदार्थों की प्रकृति एवं गुणों पर निर्भर करती है। उच्च जल स्तर हाने पर केशिका प्रभाव से जल, मृदा सतह पर आकर वाष्पित हो जाता है और लवण सतह पर एकत्रित हो जाते है।

3. **लवणीय जल से सिंचाई (Irrigation with Salted Water):–** लवणयुक्त जल से सिंचाई करने पर जल की कुछ मात्रा पौधों द्वारा ग्रहण कर ली जाती है और कुछ जल वाष्पीकरण द्वारा उड़ जाता है तथा लवण मृदा की सतह पर रह जाते है जिससे मृदा लवणीय हो जाती है।

4. **अवमृदा की अभेद्यता (Hard Layer in Sub- Soil):–** मृदा की सतह में कठोर परत होने पर जल मृदा की निचली सतहों तक नहीं पहुँच पाता है जिससे लवणों का निक्षालन नहीं हो पाता है और वे सतह पर आकर एकत्रित हो जाते है।

5. **खराब जल निकास(Improper Drainage):–** ऐसे स्थान जहाँ मृदाओं में समुचित जल निकास की सुविधा नहीं होती है। वहाँ भरे हुए जल के सूखने पर लवण वही रह जाते हैं और लगातार यही क्रम चलने से मृदा लवणीय हो जाती हैं।

6. **लवणीय मृदाओं का प्रबन्ध (Reclamation of Saline Soils)–** लवणीय मृदाओं को सुधारने हेतु निम्नलिखित उपाय किये जा सकते है।

(अ) भौतिक उपाय (Mechanical Methods):–

1. **खुरचना (Scraping):–**लवणीय मृदा की ऊपरी सतह पर जमा लवणों की परत को खुरचकर प्रभावित क्षेत्र से बाहर निकाल देते है। यह विधि छोटे क्षेत्र के लिए उपयोगी है किन्तु महँगी और अस्थाई है क्योंकि कुछ समय पश्चात् नीचे के लवण ऊपरी सतह पर आ जाते है।

2. **लवणों को बहाना (Flushing of Soluble Salts):–** इस विधि में प्रभावित क्षेत्र में पर्याप्त जल भर दिया जाता है जिससे ऊपरी सतह के लवण जल में घुल जाते हैं। अब इस जल को तेजी के साथ खेत के बाहर निकल देते है जिससे लवण जल के साथ बहकर चले जाते है और मृदा में लवणों की सान्द्रता कम हो जाती है।

3. **निक्षालन (Leaching):–** इस विधि में लवणों को जल में विलेय करके पौधों की जड़ क्षेत्र से नीचे ले जाया जाता है। इस क्रिया के लिए सम्बन्धित क्षेत्र का जल स्तर नीचा होना चाहिए एवं सिचांई हेतु लवण रहित जल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना चाहिए। निक्षालन के लिए इतना जल दिया जाता है कि फसलों की आवश्यकता के साथ–साथ निक्षालन माँग को भी पूरा कर सके।

(ब) रासायनिक उपाय (Chemical Methods)– क्षारीय मृदाओं में विनिमयशील सोडियम को अन्य धनात्मक आयन्स द्वारा मृदा सतह से हटाने के लिए काम में लिये जाने वाले रसायन मृदा सुधारक कहलाते है। सामान्यतः मृदा सुधारकों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है।

1. विलेय कैल्सियम लवण – जिप्सम, फास्फो जिप्सम
2. कम विलेय कैल्सियम लवण – चूना पत्थर
3. अम्ल एवं अम्ल उत्पादक – गंधक का अम्ल, गंधक, पाइराइट्स

इस सुधारकों में से निम्न सुधारकों का अधिक उपयोग किया जाता है।

1. **जिप्सम –** यह सुधारक सस्ता एवं आसानी से उपलब्ध होने से अधिक प्रचलित है जिप्सम का प्रयोग लवण प्रभावित मृदाओं में करने पर जिप्सम में उपस्थित कैल्सियम, मृदा कणों पर उपस्थित विनिमयशील को विस्थापित कर उसके स्थान पर कैल्सियम आयन्स को स्थापित कर देता है। और सोडियम आयन्स मृदा विलयन में उपस्थित सल्फेट आयन्स से अभिक्रिया करके सोडियम सल्फेट का निर्माण करते है। सोडियम सल्फेट जल विलेय होने के कारण मृदा से जल के साथ निक्षालित हो जाता है।

$$\begin{matrix} Na \\ \boxed{\text{क्ले}} \\ Na \end{matrix} + CaSO_4 \longrightarrow Ca\boxed{\text{क्ले}} + Na_2SO_4$$

2. **चूना पत्थर–** जिन मृदाओं का p^H 8.0 से कम होता है उनमें चूना पत्थर का उपयोग किया जाता है। क्योंकि

अधिक p^H पर चूना अविलेय हो जाता है। चूने में उपस्थित कैल्सियम मृदा कणों पर उपस्थित सोडियम को निम्न प्रकार विस्थापित कर देता है।

$$\begin{matrix} Na \\ \boxed{\text{क्ले}} \\ Na \end{matrix} + CaCO_3 \longrightarrow Ca\boxed{\text{क्ले}} + Na_2CO_3$$

3. **पाइराइट्स:–** पाइराइट मृदा में मिलाने पर इसका ऑक्सीकरण शुरू हो जाता है जिससे यह वायु एवं जल के संयोग सलफ्यूरिक अम्ल एवं आयरन सल्फेट का निर्माण करता है। इसे मृदा में मिलाने पर होने वाली अभिक्रिया को निम्न प्रकार दर्शाया जा सकता है–

$$2FeS_2 + 7O_2 + 2H_2O \longrightarrow 2feSO_4 + H_2SO_4$$

$$H_2SO_4 + CaCO_3 \longrightarrow CaSO_4 + H_2O + CO_2$$

$$CaSO_4 + Na \longrightarrow Ca + Na_2SO_3$$

(निक्षालन)

(स) मृदा प्रबन्ध उपाय
(Soil Mangement Practices) –

1. **खेत की तैयारी एवं जुताई (Tillage Practices):–** लवणीय भूमि वाले खेत को समतल बना लेना चाहिए जिससे सिंचाई का जल उसमें समुचित रूप से बराबर बट सके। खेत असमतल होने पर उसमें ऊँचे स्थानों पर जल नहीं पहुँच पाता और वहाँ लवण निक्षालन द्वारा नीचे नहीं जा पाते है। इन मृदाओं में जुताई उपयुक्त नमी होने पर ही करनी चाहिए। परीक्षणों से ज्ञात हुआ कि मिट्टी पलटने वाले हल से 15–20 सेमी. गहरी जुताई करने के पश्चात् बीज बोने पर बीजो का अंकुरण अधिक होता है।

2. **बुआई की विधि (Sowing Method):–** इन मृदाओं में बीज का अंकुरण एक जटिल समस्या है क्योंकि अंकुरण पर लवणों का बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः इनमें कूँड़ सिंचाई वाली फसलों के बीज को मेडों के ढलान पर बोना चाहिए तथा कूँड़ में सिंचाई करनी चाहिए इससे लवण कूँड़ की उपरी सतह पर आकर जमा होगें और पौधों की बढ़वार होती रहेगी।

3. **बीज की मात्रा (Seed Rate)–** ऐसी मृदाओं में बीजों का अंकुरण कम होता है इसलिए इनमें बीज की मात्रा सामान्य दर से 15–20 प्रतिशत अधिक काम में लेनी चाहिए।

4. **सिंचाई (Irrigation)–** इन मृदाओं में सिंचाई की प्रवाह विधि अधिक लाभप्रद रहती है सिंचाई जल्दी–जल्दी करना चाहिए तथा प्रत्येक सिंचाई के समय अधिक पानी देना चाहिए। ऐसी भूमि में बूंद–बूंद सिंचाई विधि भी उपयोगी रहती है।

5. **कार्बनिक पदार्थों का प्रयोग (Use of Organic Matter)–** जीवांश पदार्थ के प्रयोग से मृदा की भौतिक दशा सुधरती है साथ ही इसके विघटन के समय उत्पन्न कार्बन–डाइ–ऑक्साइड जल में संयोग करके कार्बनिक अम्ल बनाती है। यह अम्ल क्षारीयता को कम करने में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त जीवांश पदार्थ से मृदा में जीवाणुओं की क्रियाशीलता में वृद्धि होती है।

6. **लवण प्रतिरोधी फसलों का चयन (Selection of Salt Tolerant Crops):–** इन मृदाओं में लवणीयता सहन करने वाली फसले उगानी चाहिए। लवण सहिष्णु फसलों को निम्नलिखित तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है।

1. **उच्च लवण सहिष्णु फसलें–** जौ, ढेंचा, चुकन्दर, शलजम, पालक, मूली, दूबघास आदि।

2. **मध्यम लवण सहिष्णु फसलें–** राई, गेहूँ, सरसों, जई, धान, ज्वार, बाजरा, मक्का, टमाटर, फूलगोभी, पत्ता गोभी, आलू, प्याज, रिजका, बरसीम आदि।

3. **न्यून लवण सहिष्णु फसलें–** सेम, मूंग, उड़द, चना, मोठ, मटर, सेम, भिण्डी, लौकी, सेव , सन्तरा, नीबू, पपीता आदि।

4. **उचित फसल चक्र –** इन मृदाओं में सदैव फसलें उगानी चाहिए इन्हें परती नहीं छोडना चाहिए। इन मृदाओं के लिए उपयुक्त कुछ फसल चक्र निम्नलिखित है–

(अ) धान – सरसों (एक वर्ष)
(ब) धान– जौ, ढेंचा (हरी खाद)–सरसों (दो वर्ष)
(स) ढेंचा –गेहूँ–धान–आलू (दो वर्ष)
(द) कपास – रिजका–मक्का–आलू (दो वर्ष)

(य) ढेंचा (हरी खाद)– चुकन्दर–मक्का–जौ (दो वर्ष)
(र) ग्वार– जौ – कपास–मेथी (दो वर्ष)

राजस्थान की मृदायें

पौधों के लिए मृदा एक प्राकृतिक माध्यम है। पौधे अपने भोजन के अधिकांश पोषक तत्व, जल,वायु तथा मृदा से प्राप्त करते है। मृदा पौधों को सीधा खड़ा रखने में प्रत्यक्ष आधार प्रदान करती है। राजस्थान में पायी जाने वाली मृदाओं को उनकी प्रधानता, उपलब्धता व विशेषता तथा कृषिगत उर्वरता के आधार पर आठ प्रकारों में बांटा गया है जो निम्न है–

1. रेतीली या बलुई मृदा
2. भूरी रेतीली मृदा
3. लाल पीली मृदा
4. लाल लोमी मृदा
5. दोमट या कछारी मृदा
6. काली मृदा
7. लाल व काली मिश्रित मृदा
8. भूरी रेतीली कछारी मिट्टी

1 रेतीली या बलुई मृदा (Sandy Soil)– यह मृदा राजस्थान के सर्वाधिक क्षेत्र में पायी जाती है। इस मृदा में अन्त स्पन्दन एवं पारगम्यता की दर अत्यधिक होने के कारण इनमें जल एवं पोषक तत्वों का ह्रास अधिक होता है। मृदा कम उपजाऊ होती है। इसमें 90 से 95 प्रतिशत बालू तथा 5 से 7 प्रतिशत मृत्तिका पायी जाती है। यह जोधपुर, बीकानेर, बाड़मेर, जैसलमेर, झुंझुनूं, चूरू व नागौर में पायी जाती है।

2 भूरी रेतीली मृदा (Brown Sandy Soil)– अरावली के पश्चिमी भाग में यह मृदा लगभग 36500 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर विस्तृत है। बाड़मेर, जालौर, जोधपुर, सिरोही, पाली, नागौर, सीकर और झुंझुनूं, जिलों में अधिकतर पायी जाती है। इसका रंग भूरा होता है। यह रेतीली मृदा की अपेक्षा अधिक उपजाऊ होती है। इस मृदा में फॉस्फोरस तल अधिक मात्रा में पाया जाता है। बनावट की दृष्टि से यह मृदा मध्यम से थोड़ी भारी होती है।

3 लाल पीली मृदा (Red Yellow Soil)– अरावली पर्वत के पश्चिमी पहाड़ी क्षेत्र में लाल–पीली मृदा पायी जाती है। यह मृदा कम उपजाऊ होती है। इसमें कैल्सियम कार्बोनेट व चूने की मात्रा अधिक पायी जाती है। इसमें कपास, मूँगफली तथा मक्का की फसलें बोयी जा सकती है। यह मुख्यतः उदयपुर, भीलवाड़ा, बांसवाड़ा, सिरोही, अजमेर, चित्तौडगढ़ जिलों में पायी जाती है।
इस मृदा का pH मान 5.5 से 8.5 के बीच होता है।

4 लाल लोमी मृदा (Red Loamy Soil) – इस मृदा का लाल रंग इसमें उपस्थित लोह कणों के कारण होता है। इसमें पानी अधिक समय तक रहता है। इसलिए वर्षा के बाद लम्बे समय तक मृदा में नमी बनी रहती है। इस मृदा में चूना, पोटाश एवं फॉस्फोरस की कमी होती है। रासायनिक खाद देने और सिंचाई करने पर चावल, कपास, चना, गेहूँ, गन्ना आदि उगाये जा सकते है। यह मृदा दक्षिणी राजस्थान के डूंगरपुर, बासंवाड़ा,उदयपुर व चित्तौडगढ़ के कुछ भागों में पायी जाती है।

5 दोमट या कछारी मृदा (Loamy Soil)– यह मृदा कृषि के लिए सबसे अच्छी मानी जाती है। इसकी रचना नदी नालों के किनारे तथा उनके प्रवाह क्षेत्र में होती है। इसका रंग लाल होता है। यह राज्य में अलवर, भरतपुर, धौलपुर, टोंक, कोटा व सवाईमाधोपुर जिलों में पायी जाती है। इसमें सभी फसलें सफलतापूर्वक उगायी जा सकती है।

6 काली मृदा (Black Soil)– यह मृदा काले रंग की होती है। उदयपुर व कोटा डिवीजन (खण्ड) में बहुतायत से पायी जाती है कपास की खेती के लिए सर्वोत्तम मानी जाती है। वैसे सभी प्रकार के फसल उत्पादन के लिए उपयुक्त रहती है।

7 लाल व काली मिश्रित मृदा (Red & Black Mixed Soil)– यह मृदा सामान्यतः हल्के गठन वाली होती है। इसमें साधारणतः फॉस्फेट, नाइट्रोजन, कैल्सियम और कार्बनिक पदार्थों की कमी होती है। इसमें कपास, मक्का, आदि की खेती की जा सकती है। यह भीलवाड़ा व उदयपुर के पूर्वी भागों में एवं चित्तौड़गढ़ , डूंगरपुर व बासंवाड़ा आदि जिलों

में मिलती है।

8 भूरी रेतीली कछारी मिट्टी (Brown Sandy Loam Soil)– यह मिट्टी अलवर व भरतपुर के उतरी भाग में और गंगानगर जिले के मध्य भाग में मिलती है। यह मिट्टी नदियों द्वारा लायी गई है। इसलिए उपजाऊ है। यह कपास और गेहूँ के उत्पादन के लिए अच्छी है।

मृदाओं का उपरोक्त वर्गीकरण तथ्यों व pH मूल्य के आधार पर किया गया है। राजस्थान कृषि विभाग ने मिट्टी की उर्वरता के आधार पर भी वर्गीकरण किया है जिसमें निम्नलिखित 14 तरह की मृदाओं के नाम उल्लेखित है।

1 रेतीली मृदा	2 रेतीली चूना रहित मृदा
3 रेतीली धोरेयुक्त मृदा	4 रेतीली जलोढ़ मृदा
5 सीरो जोन मृदा	6 जिंक एवं चूनायुक्त मृदा
7 भूरी चूना युक्त मृदा	8 लवणीय व क्षारीय मृदा
9 नई जलोढ़ मृदा	10 धूसर भूरी जलोढ़ मृदा
11 पीली भूरी मृदा	12 लाल दोमट मृदा
13 गहरी सामान्य काली मिट्टी	14 पथरीली मिट्टी

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. मृदा आयतन का कितना प्रतिशत आयतन ठोस पदार्थ से घिरा रहता है?

(अ) लगभग 50 प्रतिशत (ब) लगभग 25 प्रतिशत
(स) लगभग 5 प्रतिशत (द) लगभग 100 प्रतिशत

2. मृतिका के कणों का व्यास होता है –

(अ) 0.002 मिमी से कम
(ब) 0.002 मिमी से अधिक
(स) 1.00 मिमी से 1.20 मिमी तक
(द) 0.25 मिमी से 0.5 मिमी से तक

3. पौधों का कितने प्रतिशत भाग जल से निर्मित होता है?

(अ) लगभग 50 प्रतिशत
(ब) लगभग 70 से 95 प्रतिशत
(स) लगभग 25 से 35 प्रतिशत
(द) लगभग 100 प्रतिशत

4. निम्न में से पौधों के लिए महत्वपूर्ण जल है –

(अ) आसुत जल (अ) आर्द्रताग्राही जल
(स) केशीय जल (द) स्वतंत्र जल

5. खड़ी फसल की मृदा में कार्बन–डाई–ऑक्साईड की मात्रा परती मृदा की अपेक्षा होती है –

(अ) लगभग 10 गुनी (ब) लगभग 2 गुनी
(स) लगभग बराबर (द) लगभग 20 गुनी

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

6. मृदा की परिभाषा लिखिए।
7. मृदा के मुख्य अवयव कौन–कौन से है ?
8. मृदा ह्यूमस के बारे में लिखिए ।
9. मृदा ताप का क्या महत्व है?
10. मृदा वातन किसे कहते है?
11. लवणीय मृदा से क्या तात्पर्य है ?
12. असलांग बिन्दु किसे कहते है?
13. मृदा अम्लीयता के प्रकार लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

14. मृदा गठन किसे कहते है? इसका कृषि में महत्व समझाइये।
15. मृदा संरचना का जल की अन्तःस्रवण गति पर क्या प्रभाव पड़ता है? लिखिए।
16. मृदा रन्ध्रावकाश प्रतिशतता की गणना का सूत्र लिखिए।
17. लवणीयता का पौधों पर क्या प्रभाव पड़ता है? लिखिए।
18. यू.एस.डी.ए.पद्धति के अनुसार मृदा वर्ग कणों का वर्गीकरण लिखिए।

निबंधात्मक प्रश्न

19. मृदा जल कितने प्रकार का होता है? इनमें कौनसा जल पौधों के लिए उपयोगी है? और क्यों?
20. लवणीय मृदा किसे कहते है? इन मृदाओं को सुधारने के रासायनिक उपाय लिखिए?
21. मृदा वायु के संगठन को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।
22. अम्लीय मृदा की परिभाषा लिखिए। अम्लीय मृदा बनने के कारण लिखिए।
23. मृदा संरचना के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
24. मृदा के प्रमुख अवयवों का वर्णन कीजिए।
25. राजस्थान की प्रमुख मृदाओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर माला – 1. (अ) 2. (अ) 3. (ब) 4. (स) 5. (अ)

अध्याय–4
पोषक तत्व एवं उर्वरक
(Plant Nutrients and Fertilizers)

बीज में संचित पोषक तत्वों का उपयोग करते हुए अंकुरण के समय प्रांकुर (Plumule) एवं मूलांकुर (Radicle) बीज से बाहर निकलते है। संचित भोजन समाप्त होने तक पौधों पर पत्तियों का निर्माण होने लगता है और स्वपोषी (Autotroph) पौधे पत्तियों में उपस्थित पर्ण हरित (Chlorophyll) की सहायता से वायु से कार्बन–डाइ–आक्साईड (CO_2) व भूमि से पानी (H_2O) व अन्य पोषक तत्व ग्रहण करके कार्बोहाइड्रेट के रूप में अपने भोजन का निर्माण करते है। शताब्दियों से यह माना जाता रहा है कि धरातलीय पौधों की जड़ें मृदा से अपना पोषण प्राप्त करती है। 19वीं सदी के पूर्वाद्ध तक यह माना जाता रहा है कि पौधों को वृद्धि एवं विकास के लिए कुछ निश्चित रासायनिक तत्वों की आवश्यकता होती है। ये पोषक तत्व मृदा से मुख्यतः अकार्बनिक आयनों के रूप में पौधों की जड़ों द्वारा अवशोषित किए जाते है। चूंकि ये आयन मृदा के खनिज (Minerals) घटकों से मृदा विलयन में व्युत्पन्न (Derived) होते है। अतः ऐसे अकार्बनिक आयन जो मृदा से प्राप्त होते है और पादप वृद्धि के लिए अपेक्षित/अभिष्ट होते है, खनिज पोषक तत्व (Mineral Nutrient) कहलाते है। पौधों द्वारा पोषक तत्वों का अवशोषण (Absorption), स्थानांतरण (Translocation) एवं आत्मसात्करण (पचाने की क्रिया, Assimilation) की प्रक्रिया को खनिज पोषण कहा जाता है। मृदा द्वारा पौधों को पर्याप्त मात्रा एवं उचित अनुपात में पोषक तत्व आपूर्ति करने की पैतृक क्षमता को मृदा उर्वरता कहते है। यह उत्पादकता ज्ञात करने का मुख्य घटक है।

अद्यतन तकनीको से पादप विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि प्राकृतिक रूप से पादप शरीर में 30 तत्व और कुछ मामलों (Cases) में 90 तक तत्व पौधों में पाये जाते है। परंतु पादप शरीर में उपस्थित ये सभी तत्व पौधे के वृद्धि और विकास में आवश्यक नहीं होते है। वैज्ञानिकों आरनन और स्टाउट (Arnon and Stout) ने 1939 में पौधों के लिए आवश्यक पोषक तत्व के मापदण्ड प्रस्तावित किए जिन्हें आरनन ने पुनः 1954 में परिष्कृत (Refined) किया। उनके अनुसार उन पोषक तत्वों को पौधे के लिए आवश्यक माना जाता है जो निम्न मापदण्ड पूर्ण करते है :–

1. किसी तत्व की कमी के कारण पौधा अपने जीवन चक्र की वानस्पतिक वृद्धि अथवा प्रजनन प्रक्रिया को पूर्ण नहीं कर सकता है।
2. पौधे पर कमी के लक्षण तत्व विशेष के लिए विशिष्ट होते है, अर्थात् पौधे पर कमी के लक्षण प्रकट होने पर वह तत्व विशेष उपयोग करने पर ही कमी के लक्षण दूर होते है किसी अन्य तत्व के उपयोग से नही।
3. तत्व पौधें के पोषण या उपापचय (Metabolism) क्रियाओं में प्रत्यक्ष तौर पर सम्मिलित होता है

इस आधार पर निम्न सारणी में उल्लिखित 17 तत्वों को पौधों के लिए आवश्यक पोषक तत्व (Essential Nutrients) माना जाता है।

सारणी : पौधों के लिए आवश्यक पोषक तत्व एवं तत्वों का रूप (उपलब्ध अवस्था, Available forms) जिनमें पौधे तत्व का अवशोषण करते है।

खनिज तत्व	आयनिक रूप	गैर आयनिक रूप
कार्बन (C)		
हाइड्रोजन (H)		
ऑक्सीजन (O)		
नाइट्रोजन (N)	NH^+_4 (अमोनियम), NO_3^- (नाइट्रेट)	$CO(NH_2)^2$ (एमाइड)
फॉस्फोरस (P)	$H_2PO_4^-$ (मोनो), HPO_4^{-2}(डाइ), PO_4^{-3} (ट्राइ),	
पोटैशियम (केलियम K)	K^+	

कैल्सियम (Ca) मैग्नीशियम (Mg) गन्धक (S) लोहा (Fe) मैंगनीज (Mn) ताम्बा (Cu) जस्ता (Zn) बोरॉन (B) मोलिब्डेनम (Mo) क्लोरीन (Cl) निकल (Ni)	Ca^{++} Mg^{++} SO_4^{-2}(सल्फेट), Fe^{++}(फेरस), Fe^{+++}(फेरिक) Mn^{++} Cu^{++} Zn^{++} H_3BO_3, $H_2BO_3^-$ MoO_4^{-2} Cl^- Ni^{++}	SO_2 (पत्तियों द्वारा) EDTA के साथ $FeSO_4$ EDTA के साथ $MnSO_4$ EDTA के साथ $CuSO_4$ EDTA के साथ $ZnSO_4$

यूरिया (NH_2CONH_2) उर्वरक का उपयोग करने पर पौधे नत्रजन को कार्बनिक रूप एमाइड (NH_2) द्वारा भी ग्रहण कर सकते है। अधिकांशतः पौधें नत्रजन को नाइट्रेट (NO_3^-) रूप में ग्रहण करते है। विशेष परिस्थितियों जैसे धान के खेत जहाँ पानी भरा रहता है, या अन्य जलमग्न खेतों में पौधे अमोनियम(NH_4^+) के रूप में भी नत्रजन को ग्रहण करते है।

इन मापदण्डो के आधार पर उपरोक्त 17 तत्वों के अलावा अन्य तत्वों को पौधों के लिए आवश्यक नहीं माना जाता है। परन्तु कुछ तत्व फसलों की उपज बढ़ानें में सहायक होते है जैसे साडियम (Na), चुकन्दर (Sugarbeat),शलजम (Turnip) आदि फसलों के लिए प्रभावी होता है। 1961 में निकोलस (Nicholas) ने "Functional Nutrient" क्रियात्मक पोषक तत्व शब्द प्रतिपादित किया जिसके अनुसार किसी पोषक तत्व का कार्य विशिष्ट हो या नहीं, यदि पौधें की उपापचयी क्रियाओं में कार्य करता है उसे क्रियात्मक पोषक तत्व कहते है। सोडियम के अलावा, कोबाल्ट (CO), वेनेडियम (V) और सिलिकॉन (Si) तत्वों को भी क्रियात्मक पोषक तत्व कहा जाता है। किसी भी एक आवश्यक पोषक तत्व की कमी के कारण पौधे की वृद्धि प्रभावित होती है। पौधे एक आवश्यक तत्व की कमी के कारण अन्य उपलब्ध तत्वों का उचित उपयोग नहीं कर पाते है और अन्य सभी आवश्यक तत्वों की अनुकूल अवस्था में उपलब्धता होते हुए भी फसलों से अधिकतम उत्पादन प्राप्त नहीं किया जा सकता है। पौधे की अच्छी बढ़वार के लिए यह आवश्यक है कि भूमि में पोषक तत्व (i) घुलनशील एवं उपलब्ध अवस्था (Available form) में हो। (ii) मृदा घोल में तत्वों की सान्द्रता उचित हो एवं (iii) विभिन्न तत्वों का मृदा में संतुलन पौधों की बढ़वार के अनुकूल हो।

पोषक तत्वों का वर्गीकरण

पौधों को अपनी सामान्य वृद्धि और जीवन चक्र पूर्ण करने के लिए 17 पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है। पौधे के ऊतको में इन तत्वों की सापेक्षिक मात्रा या सांद्रण के आधार पर इनको निम्नानुसार वर्गीकृत किया जाता है –

(अ) मुख्य पोषक तत्व (Macro/major nutrients) :– इन पोषक तत्वों की पौधों को अधिक मात्रा में (>1ppm) आवश्यकता होती है। इन्हे पुनः दो भागों में विभक्त किया गया है –

1. **प्राथमिक पोषक तत्व (Primary Nutrients)** :– कार्बन (C) , ऑक्सीजन (O), हाइड्रोजन (H), नत्रजन (N), फॉस्फोरस (P) एवं पोटैशियम (K)। इनमें से C, O, H पौधों को प्राकृतिक रूप से हवा और पानी के द्वारा प्राप्त हो जाते है। शेष तीनों (N, P, K) तत्व विश्व की लगभग सभी प्रकार की मृदाओं में कम मात्रा में पाये जाते है। इस कारण से विश्व का उर्वरक उद्योग इन तत्वों को अधिक महत्व देता है। अतः इन्हें प्राथमिक (Primary) या उर्वरक पोषक तत्व (Fertilizer Nutrients) भी कहा जाता है।
2. **द्वितीयक पोषक तत्व (Secondary Nutrients)** :– प्राथमिक पोषक तत्वों की तुलना में कम मात्रा में पौधों को आवश्यकता होती है साथ ही अनजाने तौर पर N, P, K उर्वरकों के साथ प्रयुक्त किए जाते है। अतः द्वितीयक पोषक तत्व कहलाते है। इस वर्ग में कैल्सियम, मैग्निशियम एवं गन्धक (सल्फर) पोषक तत्व सम्मिलित किये जाते है।

(ब) सूक्ष्म पोषक तत्व (Micro nutrients) :– इन पोषक तत्वों की पौधों को कम मात्रा में (<1ppm) आवश्यकता

होती है। अतः इन्हे सूक्ष्म पोषक तत्व कहते है। आयनों पर आवेश के आधार पर इनको दो भागों में विभक्त किया जाता है –

1. **धनायन (Cations) :–** लोहा, जस्ता, ताम्बा, मैग्नीज व निकल।
2. **ऋणायन (Anions) :–** बोरॉन, मोलिब्डेनम व क्लोरीन।

यद्यपि विभिन्न पोषक तत्व पौधों द्वारा भिन्न–भिन्न मात्राओं में ग्रहण किए जाते है तथापि सभी पोषक तत्व पौधे के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण होते है। सूक्ष्म पोषक तत्वों की सूक्ष्म मात्रा ही पौधों में इष्टतम प्रभाव लाने में प्रभावी होती है। इनकी हल्की सी कमी या अधिकता पौधों की वृद्धि व विकास को प्रभावित कर सकती है।

पौधों में कार्य के आधार पर पोषक तत्वों को निम्नानुसर वर्गीकृत किया जा सकता है :–

1. आधारभूत संरचनात्मक पोषक तत्व(Basic structural nutrients) :– जो पौधों की आधारभूत/बुनियादी संरचाओं के संघटक तत्व होते हैं जैसे – कार्बन, हाईड्रोजन व आक्सीजन।
2. सहायक संरचनात्मक पोषक तत्व (Accessory structural nutrients):– ये तत्व ऊर्जा भण्डारण, स्थानान्तरण एवं ऊर्जा बन्धन में उपयोगी होते है। ये जीवित ऊतकों के लिए बहुत सक्रिय एवं महत्वपूर्ण होते हैं। ये तत्व हैं : नत्रजन, फॉस्फोरस एवं गन्धक (सल्फर)
3. नियामक एवं वाहक पोषक तत्व (Regulatory and Carrier Nutrients) ये पोषक तत्व कोशिका जीव द्रव्य में आवेश संतुलन के लिए आवश्यक होते हैं और नियामक व वाहक की तरह कार्य करते हैं। पोटैशियम कैल्सियम एवं मैग्नेशियम इस वर्ग में आते हैं।
4. उत्प्रेरक एवं क्रियावर्द्धक पोषक तत्व (Catalyser and Activator Nutrients) लोहा, मैग्नीज, जस्ता, ताम्बा, बोरॉन, मोलिब्डेनम व क्लोरीन जैसे तत्व जो किण्वक (Enzyme) क्रियावर्द्धक और इलेक्ट्रान परिवहन में शामिल होते हैं, उत्प्रेरक एवं क्रियावर्द्धक पोषक तत्वों की श्रेणी में आते है।

मृदा में गतिशीलता (Mobility) के आधार पर

मृदा में पोषक तत्व की गतिशीलता पौधों के लिए तत्वों की उपलब्धता और उर्वरक प्रयोग विधि को प्रभावित करती है। मृदा में गतिशीलता के आधार पर पोषक तत्वों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत करते हैं :–

(अ) गतिशील (Mobile) :– ये मृदा विलयन में अत्यधिक घुलनशील होने के कारण गतिशील होते है। इस कारण जड़ क्षेत्र से इनका ह्रास भी शीघ्र होता है। नाइट्रेट (NO_3^-), सल्फेट (SO_4^{-2}), बोरेट (BO_3^{-3}), मैग्नीज (Mn^{2+})एवं क्लोरीन (Cl^-) इस वर्ग में शामिल होने वाले तत्व हैं।

(ब) कम गतिशील (Less Mobile) :– ये गतिशील तत्वों की तुलना में कम गतिशील होते है और मृदा में मृतिका कणों(Clay particles) पर चिपके (Adsorbed) रहते है। अमोनियम (NH_4^+), पोटैशियम (K^+), कैल्सियम (Ca^{2+}), मैग्नीशियम (Mg^{2+}), व ताम्बा (Cu^{2+}) इस वर्ग के तत्व है।

(स) स्थिर (Immobile) :– जस्ता (Zn^{+2}) एवं फॉस्फोरस ($H_2PO_4^-$ व HPO_4^{-2}) जैसे तत्व अत्यधिक प्रतिक्रियाशील होते है और मृदा में शीघ्र ही स्थिर हो जाते है।

अत्यधिक स्थिर पोषक तत्वों को जड़ें केवल अपनी सतह के पास आने पर ही अवशोषित कर पाती है जबकि अत्यधिक गतिशील पोषक तत्व सम्पूर्ण जड़ क्षेत्र से भी जड़ों द्वारा अवशोषित किए जा सकते है। पौध वृद्धि के लिए जड़े जिस जड़ क्षेत्र से पोषक तत्वों को अवशोषित करते है वह जड़ क्षेत्र फोरेज क्षेत्र (Forage area) कहलाता है। स्थिर तत्वों के लिए जड़ों की सतह का क्षेत्र और अत्यधिक गतिशील तत्वों के लिए पूरा जड़ क्षेत्र ही फोरेज क्षेत्र कहलाता है।

पौधे में गतिशीलता के आधार पर :– इस आधार पर पौधों पर प्रकट होने वाले पोषक तत्वों की कमी के लक्षणों को पहचानने और उनके निराकरण में सहायता मिलती है। जो पोषक तत्व पौधे में अत्यधिक गतिशील होता है, कमी की अवस्था में पौधे के शीर्ष भाग में पहुँच जाते है और उनकी कमी के लक्षण पौधे के निचले भागों तथा पुरानी पत्तियों पर दिखाई देते हैं।

1. अत्यधिक गतिशील (Highly mobile) :– नत्रजन, फॉस्फोरस, पोटेशियम, मैग्नेशियम, मोलिब्डेनम (कमी के लक्षण पौधे के नीचे के भाग पर)।
2. मध्यम गतिशील (Moderately mobile) :– जस्ता (कमी के लक्षण पौधे के मध्य भाग पर)।
3. कम गतिशील (Less mobile) :– गन्धक, लोहा, मैग्नीज, ताम्बा, क्लोरीन (कमी के लक्षण पौधे के शीर्ष भाग में नई पत्तियों पर)।
4. स्थिर (Immobile) :– कैल्सियम एवं बोरॉन (कमी के लक्षण नव कलिकाओं और शीर्ष भाग पर)।

पौधे में गतिशीलता के आधार पर पोषक तत्वों की कमी के लक्षणों को निम्न तालिका के आधार पर समझा जा सकता है :–

- पुरानी पत्तियों पर (N,P,K,Mg,Mo)
  - मृत स्थान के साथ (With dead spot) (K,Mo)
  - मृत स्थान के अलावा (Without dead spot) (N,P,Mg)
    - पर्ण शिराएँ हरी (Mg)
    - पर्ण शिराएँ पीली (N)
- नई पत्तियों पर (S,Fe,Mn,Cu,Cl)
  - पर्ण शिराएँ हरी (Fe, Mn)
  - पर्ण शिराएँ पीली (S,Cu,Cl)
- पौधे के मध्य भाग पर (Zn)
- पौधे के शीर्ष भाग पर (Ca,B)

पोषक तत्वों का महत्व एवं कमी के लक्षण व कमी को दूर करने के उपाय :–

नत्रजन के कार्य

(1) पत्ती में हरे रंग (पर्णहरित), अमीनो अम्ल, प्रोटीन, न्यूक्लिक अम्ल (RNA, DNA), कई किण्वकों (Enzymes), जीव द्रव्य की रचना में नत्रजन मुख्य संघटक तत्व है। पौधों में नत्रजन से अमीनो अम्ल, प्रोटीन व जीव द्रव्य का निर्माण होता है।

(2) नत्रजन की कुछ मात्रा सैलूलोज इत्यादि के रुप में कोशिका–भित्ति पदार्थ बनाने के काम भी आती है। नत्रजन से कोशिका का आकार बढ़ता है।

(3) नत्रजन से, फास्फोरस व पोटैशियम का पौधों द्वारा उपयोग सन्तुलित रुप में होता है।

(4) पत्ती वाली सब्जियों के गुणों में वृद्धि करती हैं, पत्तियों में सरसता लाती है।

(5) दाने व चारे की फसलों में प्रोटीन की मात्रा बढ़ती है।

(6) दाने सुडौल व गूदेदार बनते हैं।

(7) गन्ना, गेहूँ, जौ व जई आदि में कल्ले अधिक फूटते हैं।

(8) जैविक (कार्बनिक) पदार्थ के शीघ्र सड़ाव में सहायक है।

(9) पौधों की वानस्पतिक वृद्धि तेजी से होती है।

अधिक नजत्रन से हानियाँ :–

(1) फसल देर में पकती है क्योंकि अधिक नत्रजन ग्रहण कर फसल काफी समय तक हरी बनी रहती है। अगर मृदा में फॉस्फोरस व पोटाश की कमी है तो फसल में दाना बहुत देर में बनता है व वजन भी कम होता है।

(2) पत्तियों में अधिक सरसता आने से पौधों पर कीट पतंगों व बीमारियों का आक्रमण भी बढ़ जाता है।

(3) पौधों में कोमलता व कोशिका भित्ति पतली होने के कारण पाला व सूखा सहन करने की शक्ति भी पौधे में कम हो जाती है।

(4) सब्जियों व अन्य फसलों के भण्डारण गुणों (keeping quality) में कमी आ जाती है।

(5) गन्ने की फसल में अधिक नत्रजन से शक्कर की मात्रा घटती है।

(6) आलू जैसी फसलों में वानस्पतिक वृद्धि अधिक होकर कन्द की पैदावार कम होती है।

(7) अधिक नत्रजन ग्रहण कर पौधे बढ़ते हैं व गिरने लगते है।

(8) भूसे की मात्रा दाने की अपेक्षा अधिक बढ़ती है।

नत्रजन की कमी के लक्षण :–

1. नत्रजन पौधों में गतिशील होने के कारण कमी के लक्षण पहले पुरानी (निचली) पत्तियों पर आते है और फिर ऊपर की ओर नई पत्तियाँ प्रभावित होती हैं व सूखती रहती हैं।
2. पौधे हल्के पीले रंग के दिखाई पड़ते है। सर्वप्रथम पर्ण शीर्ष से शुरू होकर पर्ण आधार की तरफ V आकार के रूप में पीलापन विकसित होता है।
3. पौधे बौने रह जाते हैं।

4. नत्रजन की भारी कमी में, पौधे पर फूल नहीं बनते या बहुत कम बन पाते है। दाने सिकुड़े हुए बनते है जिससे पौधे की उपज कम हो जाती है।
5. कल्ले (Tiller) वाली फसलों में कल्ले कम फूटते हैं।
6. इसकी अत्यधिक कमी से पत्तियों का रंग सफेद हो जाता है। पत्तियाँ सीधी और कठोर बन जाती है।
7. फल वाले वृक्ष में, फल गिर जाते हैं।
8. प्रोटीन प्रतिशत कम होती है।

नत्रजन की कमी को दूर करने के उपाय :–

फसल में नत्रजन की कमी की पूर्ति के लिये विभिन्न नत्रजन स्रोत काम में लिये जा सकते हैं जैसे यूरिया, किसान खाद, अमोनियम सल्फेट तथा अन्य जैविक खाद आदि। इसके साथ–साथ जैव उर्वरक (Rhizobium, Azotobactor) आदि का उपयोग भी लाभदायक रहता है।

फॉस्फोरस के कार्य :–

1. फॉस्फोरस कोशिकाओं में ऊर्जा भण्डारण एवं ऊर्जा स्थानान्तरण के लिए उत्तरदायी है। कोशिका की ऊर्जा मुद्रा (Energy Currency) कहलाता है।
2. फॉस्फोरस न्यूक्लिक अम्ल, शर्करा फॉस्फेट, न्यूक्लियोप्रोटीन आदि का अवयव होकर पौधों के आनुवांशिक गुणों के अगली पीढ़ी में वाहक का कार्य करता है।
3. फॉस्फोरस से पौधे की जड़ों का विकास तेज एवं सुदृढ़ होता है जो कि अन्य पोषक तत्वों के मृदा से अवशोषण में सहायक है।
4. इसकी उपस्थिति से कोष विभाजन शीघ्र होता है। क्योंकि यह कोशिका के केन्द्रक में पाये जाने वाले गुणसूत्र तथा ऐसी रचनाओं को बनाने के काम में आता है जिनसे नई–नई कोशिकाओं का निर्माण होता है।
5. पौधों में बीज स्वस्थ उत्पन्न होते हैं तथा बीजों का भार भी बढ़ जाता है अर्थात फूल व फल के लिए इसकी उपस्थिति आवश्यक है।
6. फॉस्फोरस से फसलों में (विशेष तौर से अनाज वाली फसलों में) परिपक्वता जल्दी आती है।
7. फॉस्फोरस पर्याप्त मात्रा में देने से दाने की उपज, भूसा की अपेक्षा अधिक बढ़ती है।
8. फल सब्जियों व दानों के गुणों में वृद्धि होती है।
9. पौधों में रोगों व कीटों के आक्रमण के प्रति प्रतिरोधकता बढ़ती है।
10. दलहनी फसलों की जड़ों में पाये जाने वाली ग्रन्थियों का विकास इसकी उपस्थिति में अधिक होता है, जिससे वायुमण्डलीय नत्रजन का मृदा में स्थिरीकरण अधिक होकर पौधों में उपलब्धता बढ़ती है।
11. अधिक नत्रजन के बुरे प्रभाव को दूर करता है।

पौधों पर फॉस्फोरस की कमी के लक्षण :–

(1) पत्तियों का रंग हल्का बैंगनी या भूरा हो जाता है। पौधों में फॉस्फोरस गतिशील है अतः लक्षण पहले नीचे की पत्तियों पर तत्पश्चात् ऊपर की पत्तियों की ओर बढ़ते हैं। पत्तियों के सिरे से यह रंग प्रारम्भ होकर, किनारे की और बढ़ता है। गेहूँ व गन्ना आदि की फसलों में कल्ले कम फूटते हैं।

(2) पौधों की जड़ो की वृद्धि व विकास बहुत कम होता है तथा कभी–कभी जड़ें भी सूख जाती है।

(3) परिपक्वता देर से होती है, फूल फल बहुत देर में बनते हैं तथा फलों या बीजों का आकार बहुत छोटा होता है।

(4) पौधे में पर्व छोटे पड़ जाते है। शाखाएँ पतली व कमजोर होती है।

(5) पौधे छोटे रह जाते है तथा पत्तियों का रंग गहरा हरा हो जाता है।

फॉस्फोरस की कमी को दूर करने के उपाय :–

फसलों में जब फॉस्फोरस की कमी दिखाई पड़ती हैं, उस समय तक उर्वरक देने का समय निकल जाता है। लेकिन लम्बी अवधि वाली फसलों तथा फल वृक्षों में इसकी कमी को दूर किया जा सकता है। फॉस्फोरस की कमी के प्रभाव से फसलों को बचाने के लिये, सबसे उत्तम उपाय यही है कि फॉस्फेट की मात्रा का निर्धारण, मृदा परीक्षण के आधार पर फसल योजना बनाते समय अवश्य करें।

पोटाश के कार्य :–

(1) यह पत्तियों के पर्ण रन्ध्रों के खुलने बन्द होने को नियमित करता है। अतः पौधों के वाष्पोत्सर्जन को नियन्त्रित करने के साथ – साथ पोषक तत्वों के उद्ग्रहण व संवहन के लिए महत्वपूर्ण है।

(2) फसल को गिरने से रोकता है तथा भूमि व जलवायु की प्रतिकूल दशाओं में फसलों के अन्दर प्रतिरोधकता बढ़ाता है। जड़ों को मजबूत बनाता है।

(3) फसलों में बीमारी व कीटपतंगो के आक्रमण के प्रति प्रतिरोधकता बढ़ाता है।

(4) फसलों की गुणवत्ता में वृद्धि होती है। आलू व अन्य सब्जियों के स्वाद में वृद्धि करता है। सब्जियों के पकने के गुण को सुधारता है। तम्बाकू में पत्तियों की गुणवत्ता सुधारता है।

(5) यह पौधों के शर्करा निर्माण व संवहन में सहायक होता है। अधिक कार्बोहाइड्रेट रखने वाली फसलें जैसे आलू, धान, चुकन्दर एवं अन्न वाली फसलें आदि पोटाश के अभाव में अधिक प्रभावित होती है।

(6) पोटाश अनाज के दानों में अधिक गूदा पैदा करके उन्हें सुडौल करता है। इससे दाने हष्ट–पुष्ट व अच्छे बनते है। उनके आकार में वृद्धि होकर उनकी रखने की गुणवत्ता (Keeping quality) अच्छी होती है। दानों में चमक आ जाती है।

(7) इससे भूमि में नाइट्रोजन की अधिकता का कुप्रभाव दूर हो जाता है।

पोटाश की कमी के लक्षण :–

(1) पोटैशियम की कमी में पत्तियाँ धब्बेदार व भूरी हो जाती है। कमी के लक्षण पहले पुरानी नीचे की पत्तियों पर प्रदर्शित होते है। पत्तियाँ समय से पूर्व ही गिर जाती है।

(2) पौधों की वृद्धि में कमी आती है। तना कमजोर हो जाता है। पोटाश की कमी में दानों का आकार छोटा रह जाता है और वजन में हल्के रह जाते हैं।

(3) पत्तियों के सिरे व किनारे झुलसे नजर आते हैं। कभी–कभी पत्तियाँ मोटी पड़ने लगती हैं और पत्तियों के सिरे मुड़ने लगते हैं। मुख्य नसें हरी बनी रहती है। बाद में सूखकर जालीदार संरचना बनती है।

(4) कपास में फसल वृद्धि के समय ही पत्तियाँ गिरने लगती है। डोडे छोटे रह जाते है और ठीक प्रकार से नहीं खुलते है।

(5) तम्बाकू के पौधों में, पत्तियों की नसों के बीच में, सिरों पर या किनारों पर उत्तक निर्जीव हो जाने के कारण फल छोटे पड़ जाते हैं।

(6) फल वृक्षों में फूल व फल कम लगते हैं।

(7) मक्का के भुट्टे छोटे तथा सिरे पर दाने कम निकलते हैं।

(8) आलू में पोटाश की कमी से पत्तियों का रंग गहरा हरा हो जाता है जो बाद में पीले भूरे एवं काँसे के रंग में परिवर्तित हो जाता है। कन्द छोटे पड़ जाते हैं तथा जड़ों का विकास कम होता है। दलहनी फसलों में पत्तियों के किनारे पर पीले सफेद धब्बे पड़ जाते हैं।

(9) कमी के लक्षण खेत में पहले नम क्षेत्र में दिखाई देते हैं। जड़ों का कम विकास होने के कारण पौधा गिर जाता है।

(10) रोग व कीटों का प्रकोप बढ़ जाता है।

पोटाश की कमी को दूर करने के उपाय :–

जब पोटाश की कमी दिखलाई पड़ती है उस समय तक पोटाश देने का समय निकल जाता है लेकिन लम्बी अवधि वाली फसलों, फलों के वृक्ष, दलहनी फसलें जिनमें दुबारा वृद्धि होती है, प्रयोग कर सकते हैं। इसकी कम को दूर करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि पोटाश की मात्रा का निर्धारण मृदा परीक्षण के आधार पर फसल योजना बनाते समय ही करें।

कैल्सियम के कार्य :–

1. कोशिका भित्ति का मुख्य अवयव है अतः कोशिकाओं की दीवारें स्वस्थ बनती हैं।
2. कोशिका विभाजन एवं वृद्धि में आवश्यक है।
3. पौधों में कई किण्वकों जैसे काईनेज, एमाइलेज, फास्पोलाइपेज आदि को नियमित करने में सहायक है।
4. पौधों में आयन उदासीकरण द्वारा कई अम्लों के हानिकारक प्रभावों को दूर करता है।
5. क्रोमोसोम का संघटक तत्व है।
6. दलहनी फसलों की जड़ों में ग्रन्थियों के विकास में सहायक है।
7. पौधों की जड़ों व वृद्धि कलिकाओं का शीघ्र विकास होता है।
8. पौधों में कार्बोहाइड्रेट संचालन में सहायक है।
9. लोहा, एल्यूमिनियम आदि की अधिकता के प्रभावों को दूर करता है।

कैल्सियम की कमी के लक्षण :–

1. अग्रिम कलिका सूख जाती है।
2. कलियाँ व फल अपरिपक्व अवस्था में मुरझा जाते है।
3. जड़ों का विकास अपूर्ण होता है।
4. नई (ऊपरी) पत्तियों के किनारे झुक (Hooking) या सिकुड़ जाते हैं। पत्तियों के किनारे व शिराएँ मर जाती है। नई पत्तियाँ सफेद हो जाती है।
5. अनाज वाली फसलों में पर्व संधियों के मध्य दूरी कम हो जाती है और पत्तियाँ पास–पास उगी प्रतीत होती है एवं पौधा बौना दिखाई देता है।
6. पौधों में पुष्पन एवं परिपक्वता देरी से आती है। बालियों में दाने कम बनते (barren ear heads) हैं।

कैल्सियम की कमी को दूर करने के उपाय :–

1. अम्लीय मृदाओं में कम कैल्शियम होती है। उदासीन व लवणीय भूमियों में बाहर से कैल्सियम मिलाने की आवश्यकता नहीं होती।
2. अपरोक्ष रुप में कैल्सियम अमोनियम नाइट्रेट, सुपर फास्फेट, साधारण हड्डी का चूरा, बैसिग स्लेग, चूना

पत्थर व जिप्सम (कैल्सियम सल्फेट) से, भूमि में कैल्सियम की पूर्ति होती रहती है।

3. इसकी पूर्ति के लिये 3–4 वर्ष में एक बार 4–5 कुन्तल जिप्सम प्रति हैक्टर खेत में दे सकते है। खेत तैयार करते समय बारीक पीसा 10 टन चूना (कम्पोस्ट या गोबर की खाद के बाद) बिखेर कर भूमि में मिलायें।

मैगनीशियम के कार्य :–

1. पर्णहरित (Chlorophyll) की संरचना में आवश्यक अंश है।
2. पौधे के अन्दर पोषक तत्वों के वाहन (Translocation) व पोषक तत्वों के उद्ग्रहण (Uptake) में सहायता करता है।
3. पौधों में तेल व वसा के निर्माण को बढ़ाता है।
4. पौधों में न्यूक्लिक अम्ल व शर्करा के उपापचय में सहायक है।
5. राइबोसोम का अवयव है।

मैगनीशियम की कमी के लक्षण :–

1. पौधे की निचली (पुरानी) पत्तियों का रंग किनारे व तने के बीच से नष्ट होता है एवं शिराएँ हरी बनी रहती हैं। (Interveinal chlorosis of lower leaves)
2. अधिक कमी में पुरानी पत्तियों पर मृत ऊतकों के साथ बैंगनी धब्बे बनकर पत्तियाँ सूख जाती हैं।
3. पत्तियाँ आकार में छोटी रह जाती हैं तथा ऊपर की ओर मुड़ जाती है।
4. पत्तियाँ अपरिपक्व अवस्था में गिर सकती है तथा इन पर फफूंदी का आक्रमण हो सकता है।

मैगनीशियम की कमी को दूर करने के उपाय :–

आवश्यकता पड़ने पर 25–50 किग्रा. मैग्निशियम सल्फेट प्रति हैक्टर की दर से, बुआई के समय खेत में बिखेर कर मिट्टी में मिलायें।

गंधक के कार्य :–

1. गंधक युक्त आवश्यक एमिनो अम्ल (सिस्टीन, सिस्टाईन, मिथियोनीन) की संरचना में आवश्यक अंग है।
2. प्रोटीन संरचना में विन्यास एवं स्थायित्व में सहायक है।
3. बायोटीन, विटामिन बी, कोएन्जाइम A आदि अन्य मेटाबोलाईट के निर्माण में भी सहायक होता है।
4. तिलहनी फसलों के लिए गन्धक आवश्यक है।
5. पत्तियों के पर्णहरित निर्माण में सहायता करता है।
6. पौधों में सुगन्ध तेल (Essential Oil) बनाने के लिए भी गन्धक जरूरी है।
7. दलहनों की जड़ों में ग्रन्थियों को अधिक विकसित करती है एवं यह जड़ के विकास(Development) में सहायक है।

गन्धक की कमी के लक्षण :– महत्व के आधार पर चौथा महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है।

1. पौधे की ऊपरी (नई पत्तियों) पत्तियों की शिरायें व शिराओं के बीच के भाग हल्के हरे रंग (Light Green) के हो जाते है।
2. पौधे की वृद्धि धीमी हो जाती है।
3. अधिक कमी होने पर पूरा पौधा पीला पड़ जाता है।

गन्धक की कमी को दूर करने के उपाय :–

गन्धक अमोनियम सल्फेट में 23.7%, अमोनियम सल्फेट नाइट्रेंट 12.1% सिंगल सुपर फास्फेट में 12.5% पोटैशियम सल्फेट 17.5% व जिप्सम में 18.6%, तक पाई जाती है जो परोक्ष रूप में भूमि में मिलती रहती है तथा प्रति वर्ष 10 – 12 किग्रा./है. गन्धक वर्षा से भी भूमि में पहुंचती है। कार्बनिक खादों से भी गन्धक भूमि में पहुँचती रहती है।

जस्ते के कार्य :–

1. कार्बोनिक एनहाइड्रेज, लेक्टेट डिहाइड्रोजिनेज, डी एन ए, आर एन ए पॉलीमरेज जैसे कई किण्वकों का संघटक तत्व होने के कारण किण्वक गतिविधियों में शामिल होता है।
2. पौधों में न्यूक्लिक अम्ल (आर एन ए) व वृद्धि नियामक (आई ए ए व जिब्रेलिक अम्ल) के निर्माण में सहायक है।
3. पौधों में जल उद्ग्रहण (Water uptake) के लिए आवश्यक है।
4. जस्ते का पौधों में प्रकाश संश्लेषण व नत्रजन उपापचय (Metabolism) में महत्वपूर्ण योगदान है।
5. प्रोटीन और वसा आदि को ऑक्सीकरण होने से बचाने में सहायक है।

जस्ते की कमी के लक्षण :–

1. जस्ते की कमी के लक्षण नयी व पुरानी पत्तियों पर एक साथ दिखाई पड़ते हैं। पत्तियों का आकार छोटा (विशेष रूप से नींबू वर्गीय फल वृक्षों में) हो जाता है, पत्तियाँ मुड़ सकती हैं।
2. पत्तियों मे शिराओं के मध्य सफेद, पीले और हल्के हरे रंग के क्षेत्र बन जाते है।
3. पत्तियों का रंग धुंधला पीला हो जाता है। जस्ते की कमी बढ़ने पर इन क्षेत्रों में ऊतक मरने लगते हैं।
4. पौधों में जल्दी ही पत्तियाँ झड़ जाती हैं।

5. फलों का आकार छोटा हो जाता है तथा फलों में बीजों का उत्पादन घट जाता है। फल कलिका रचना बहुत कम होती है।
6. नींबू कुल में लक्षण स्पष्ट दिखाई देता है। इसका तना बौना रह जाता है (Rosette Appearance)।

जस्ते की कमी को दूर करने के उपाय :–

10 – 30 किग्रा. जिंक सल्फेट प्रति हैक्टर फसल बोने से पूर्व, खेत में प्रयोग करें। खड़ी फसल में तुरन्त उपचार के लिए 0.5% जिंक सल्फेट +0.2 % चूने (Lime) के घोल का छिड़काव करें।

लोहे के कार्य :–

1. पर्णहरित की निर्माण प्रक्रिया के लिए आवश्यक है।
2. नाइट्रोजिनेज, लेगहीमोग्लोबिन आदि का संघटक होने के कारण दलहनी पौधों में नत्रजन स्थिरीकरण तंत्र का अभिन्न अंग है।
3. न्यूक्लिक अम्ल व प्रोटीन के निर्माण (संश्लेषण) व शर्करा के उपापचय (मेटाबोलिक) व अवकरण में उत्प्रेरक का कार्य करता है।
4. विभिन्न किण्वकों का धात्विक संघटक होता है।
5. मोलिब्डेनम के प्रतिस्थापन के तौर पर कार्य कर सकता है।

लोहे की कमी के लक्षण :–

1. पौधे की नई–नई (ऊपरी) पत्तियाँ पहले पीली पड़ती है।
2. पत्तियों के किनारे बहुत समय तक हरे बने रहते है तथा शिराएँ भी हरी बनी रहती है।
3. तना छोटा हो जाता है एवं नई कलिकाएँ मुरझााई नजर आती है।
4. अत्यधिक कमी की अवस्था में शिराएँ भी पीली पड़कर पूरी पत्ती कागज जैसी पतली होकर सफेद हो जाती है।

ताम्बे के कार्य :–

1. प्रकाश संश्लेषण, इलेक्ट्रोन परिवहन तंत्र एवं अन्य प्रक्रमों में भाग लेने वाले किण्वकों का अवयव होता है।
2. पौधों में फूल बनने और दानों के विकास के लिए आवश्यक है।
3. लोहे के उपयोग में सहायता करता है।
4. पौधों में विटामिन ए की वृद्धि निर्माण में सहायक है।
5. दलहनी फसलों में अप्रत्यक्ष तौर पर जड़ग्रन्थियों के विकास में सम्मिलित रहता है।

ताम्बे की कमी के लक्षण :–

1. नई पत्तियों के किनारें व पर्णशीर्ष पर पीलापन दिखाई पड़ता है और पौधा बौना रह जाता है।
2. नींबू कुल के पौधों में नई वृद्धि वाले भागों में डाइबैक हो जाता है अर्थात पौधा ऊपर से सूखना शुरू होता है।
3. अत्यधिक कमी की अवस्था में पर्णशीर्ष व किनारों में मृत ऊतक दिखाई पड़ते है (पोटैशियम की तरह परन्तु नई पत्तियों पर)।
4. नींबू कुल के फलों में लाल भूरे धब्बे अनियमित आकार के पाये जाते है।
5. फलों के रस में अम्ल कम बनता है।

मैंगनीज के कार्य :–

1. प्रकाश संश्लेषण की हिल अभिक्रिया में जल के अणुओं को तोड़कर ऑक्सीजन के निर्माण से जुड़े किण्वकों का मुख्य अंग होता है।
2. पौधों में ऑग्जीन (Auxins) वृद्धि नियामकों के स्तर एवं पर्णहरित झिल्ली संरचना को बनाये रखने में सहायक होता है।
3. नत्रजन के आत्मसात्करण (Assimilation) में सहायक होता है।
4. ऑक्सीकरण के मुक्त रेडिकल्स के दुष्प्रभावों से पादप कोशिकाओं को बचाता है।
5. मैंगनीज की अच्छी आपूर्ति घटिया वायुसंचरण के दुष्प्रभावों से पौधों को बचाती है।

मैंगनीज की कमी के लक्षण :–

1. नई (ऊपरी) पत्तियों की शिराओं के मध्य पीलापन विकासित होकर अत्यन्त कमी में पत्तियों पर शिराओं के मध्य मृत उत्तकों के धब्बे (Necrotic spots) बन जाते है।
2. जई एवं सोयाबीन पर बहुत शीघ्र कमी के लक्षण आते है।
3. पत्तियों की छोटी–छोटी शिराएँ हरी बनी रहती है।

बोरॉन के कार्य :–

1. वृद्धि ऊतकों मे नई कोशिकाओं की वृद्धि एवं विकास में सहायक होते है।
2. पौधों में कैल्सियम के अवशोषण व उपयोग में सहायक है।
3. पौधों में कैल्सियम व पोटैशियम के अनुपात को नियन्त्रित करता है।
4. परागण व प्रजनन क्रियाओं व फल बीज बनाने में सहायक है।
5. दलहनी फसलों में राइजोबियम (सहजीवी) जीवाणु की ग्रन्थियों के विकास के लिए आवश्यक है।
6. एमिनों अम्ल एवं प्रोटीन संश्लेषण में सहायक है।

7. पर्ण रन्ध्रों के खुलने को नियमित करके पानी के अवशोषण को नियंत्रत करता है।

बोरॉन की कमी के लक्षण :–

1. शीर्ष कलिका (Terminal bud) वृद्धि बन्द होकर नई पत्तियों की मृत्यु होने लगती है।
2. अधिक कमी में वृद्धि भागों की मृत्यु हो जाती है।
3. बाद की अवस्था में पत्तियाँ मोटी एवं मुड़ी हुई होने लगती है।
4. पुष्पन एवं फल विकास बाधित हो जाता है। बाद की अवस्था में सरसों एवं गेहूँ में खराब बीज जमाव एवं बांझपन आ जाता है।
5. कुछ पौधों में तने, फल एवं कन्द फट जाते है।
6. गोभी के फूल का आकार अनियमित (Deformed), छोटा व फल पर लाल धब्बे पड़ जाते है।

मोलिब्डेनम के कार्य :–

1. दलहनी फसलों की जड़ों में नत्रजन स्थिरीकरण जीवाणु के लिए आवश्यक है।
2. एजोटोबेक्टर जीवाणु द्वारा भूमि में स्वतन्त्र नाइटोजन के स्थिरीकरण के लिए आवश्यक है।
3. पौधों में लोहे के अवशोषण एवं स्थानान्तरण में अहम योगदान है।
4. पौधे में नाइट्रेट अवकरण के लिए भी आवश्यक है।
5. फॉस्फोरस उपापचय क्रिया को पौधों में प्रभावित करता है।
6. पौधों में कार्बोहाड्रेट संश्लेषण के लिए भी आवश्यक है।
7. पौधों में विटामिन सी के संश्लेषण के लिए आवश्यक है।

मोलिब्डेनम की कमी के लक्षण (अधिकांशतः अम्लीय मृदाओं पर दिखाई देते है) :–

1. पौधों की पुरानी एवं मध्य भाग की पत्तियों पर लक्षण दिखाई पड़ते हैं।
2. नत्रजन की कमी के समान पौधे छोटे एवं पीले दिखने लगते हैं।
3. टमाटर की नीचे की पत्तियों में मोटलिंग नेक्रोसिस (ऊतक क्षय) व पत्तियों में किनारे मुड़ जाते हैं (Cupping)।
4. जई की पत्तियाँ पीछे की ओर झुक जाती हैं।
5. दलहनी पौधों पर लक्षण स्पष्ट होते हैं तथा इनकी जड़ों में बनने वाली ग्रन्थियाँ कमजोर रह जाती हैं।

क्लोरीन के कार्य :–

1. इन्डोल एसिटिक अम्ल (IAA) का संघटक होता है।
2. पौधों में पर्ण रन्ध्रों की कार्य प्रणाली आदि के द्वारा जल विभव को नियंत्रित करता है।
3. हिल अभिक्रिया के मैंगनीज किण्वन का अवयव होता है।
4. पौधों को कई रोगों के प्रति सहनशील बनाता है।
5. कार्बोहाइड्रेट उपापचय क्रिया को प्रभावित करता है।

क्लोरीन की कमी के लक्षण :–

1. खेत में इसकी कमी के लक्षण अभी तक नहीं देखे गये हैं। गमलों में क्लोरीन की कमी में पत्तियों में म्लानी रोग (Wilt) के लक्षण नजर आते हैं।
2. पत्तियों पर अनियमित आकार के पीले और मृत ऊतकों के धब्बे बन जाते हैं।
3. नई विकसित पत्तियों पर पीलापन दिखाई देता है।
4. पत्ता गोभी में इसकी कमी में पत्ते मुड़ जाते हैं।
5. बरसीम की पत्तियाँ छोटी व मोटी हो जाती हैं।
6. तने व जड़ की वृद्धि रुक जाती है।

निकिल के कार्य

1. पौधों में नत्रजन उपापचय (Nitrogen metabolism) को नियमित करने वाले हाइड्रोजिनेज, मिथाईल रिडक्टेज एवं युरिएज किण्वकों (enzymes) की सक्रियता को बढ़ाने में सहायक होता है।
2. दाना भरने (grain filling) और बीज की जीवन क्षमता (seed viability) के लिए आवश्यक होता है।
3. यह युरिएज एन्जाइम का धात्विक अवयव है। दलहनी फसलों के लिए लाभदायक होता है।
4. यह पौधों द्वारा लोहा के अवशोषण के लिए आवश्यक है।

निकिल की कमी के लक्षण :–

1. निकिल की कमी के कारण पौधों में नाइट्रेट (NO_3^-) का जमाव होने लगता है और अमीनों अम्ल कम होने लगते है।
2. इसकी कमी के कारण युरिएज किण्वक की सक्रियता कम हो जाती है, इस कारण पत्तियों में यूरिया एकत्रित हो जाती है जो पौधों के लिए विषैली होती है।

उपर्युक्त सूक्ष्म तत्वों के अलावा अन्य सूक्ष्म तत्व जैसे – कोबाल्ट, सोडियम, सिलिकान तथा वेनेडियम आदि यदि मृदा में उपलब्ध नहीं होते हैं तो ये भी पौधों के वृद्धि में रूकावट डालते हैं। इनकी पूर्ति भी आवश्यकतानुसार करनी चाहिये।

मृदा में सूक्ष्म पोषक तत्वों की कमी के कारण:–

1. विभिन्न फसलों की संकर प्रजातियाँ हम अपना रहे है जो कि मुख्य तत्व नत्रजन, फॉस्फोरस व पोटाश की

अधिक मात्रा का उपयोग करती है। साथ ही साथ ये प्रजातियाँ मृदा में सूक्ष्म पोषक तत्वों विशेष रूप से जस्ते व लोहे की कमी को बढ़ाती है।

2. लगातार फसलों को उगाने व सघन खेती से मृदा में इन तत्वों की कमी बढ़ती जा रही है।
3. जटिल उर्वरकों के अपनाने से हम केवल अशुद्धि के रूप में बहुत कम ही सूक्ष्म पोषक तत्व मृदा में दे पा रहे है और इन जटिल उर्वरकों (जैसे – डाइ अमोनियम फॉस्फेट आदि) का प्रयोग दिन प्रतिदिन बढ़ रहा है। अतः मृदाओं में सुक्ष्म पोषक तत्वों की कमी आने की सम्भावनायें अधिक बनती जा रही है।
4. वर्तमान में कार्बनिक खादों का प्रयोग कम हो रहा है।

पोषक तत्वों की कमी से सर्वाधिक हानि उठाने वाली फसलें (Indicator Crops) :–

1. नत्रजन व कैल्सियम – फूलगोभी, गाँठगोभी
2. फॉस्फोरस – सरसों
3. पोटैशियम व मैग्नीशियम – आलू
4. लोहा – आलू, जई, फूलगोभी, गाँठगोभी
5. मैंगनीज – जई, चुकन्दर
6. जस्ता – धान, ज्वार, बाजरा, मक्का, गेहूँ, कपास, सोयाबीन व नींबू वर्गीय फल
7. ताम्बा – सेब, लीची, बेर, नींबू व प्याज
8. बोरॉन – सूरजमुखी
9. मोलिब्डेनम – लोबिया, गोभी, रिजका व चुकन्दर
10. सोडियम – चुकन्दर
11. सिलिकॉन – गन्ना व धान

उर्वरकों का महत्व :–

- कारखानों में विभिन्न खनिज पदार्थों की सहायता से कृत्रिम रूप से तैयार किये जाते है और एक, दो या तीन तत्व कार्बनिक खादों की तुलना में अधिक मात्रा में इन उर्वरकों से प्राप्त होते है।
- प्रयोग के एक सप्ताह बाद ही इनकी उपलब्धता पौधों को होने लगती है।
- खेत में कार्बनिक खादों की तुलना में कम मात्रा में डाले जाते है।
- निर्धारित मात्रा में अधिक प्रयोग करने पर पौधे झुलस जाते है या नष्ट हो जाते है, जमीन खराब हो जाती है।
- खेत में फसल की बुआई के साथ – साथ खड़ी फसल में भी प्रयोग कर सकते है।
- इन उर्वरकों को प्रयोग करने से 2 – 4 दिन पहले या बाद में उर्वरक को खेत में डालकर सिंचाई करना आवश्यक है जो उर्वरकों की उपयोग दक्षता बढ़ाता है।
- भंडारण में विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है।
- इनके निरन्तर प्रयोग से मृदा के जैविक, भौतिक व रासायनिक गुणों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जैसे अमो. सल्फेट के निरन्तर प्रयोग से मृदा अम्लीय व सोडियम नाइट्रेट से क्षारीय हो जाती है।
- मृदा जीवाणुओं पर कभी – कभी प्रतिकूल प्रभाव हो सकता है।
- इनके लगातार प्रयोग से मृदा में वायु संचार ठीक नहीं रह पाता।
- मृदा कटाव को रोकने में कम लाभदायक है।
- मृदा ताप पर प्रभाव नहीं पड़ता है।
- इन उर्वरकों के अधिक प्रयोग से मृदा में पोषक तत्वों का अनुपात सन्तुलित नहीं रहता है।
- पौधों के लिए पोषक तत्व उपयोग करने की खर्चीली विधि है।

उर्वरकों के प्रकार :–

उर्वरक उद्योगों में तैयार किए गये रसायन है जिनमें पौधों के लिए आवश्यक पोषक तत्व होते है। इनमें जैविक खादों की तुलना में अधिक मात्रा में पोषक तत्व होते है। इनको निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है।

(क) संघटक पोषक तत्वों के आधार पर

(अ) सरल या एकल उर्वरक (Straight fertilizers) :–

ऐसे उर्वरक जिनमें केवल एक प्राथमिक पोषक तत्व (N,P एवं K) विद्यमान होता है। एकल उर्वरकों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है –

1. **नत्रजन युक्त उर्वरक** – इस वर्ग के उर्वरकों में नत्रजन विद्यमान होती है, उदाहरणार्थ अमोनियम सल्फेट, यूरिया, अमोनियम क्लोराइड आदि
2. **फॉस्फोरस युक्त उर्वरक** – फॉस्फोरस प्रदान करने वाले सभी उर्वरक इस वर्ग में सम्मिलित किये जाते है, जैसे – सुपर फॉस्फेट, शैल फॉस्फेट आदि।
3. **पोटैशियम युक्त उर्वरक** – ऐसे उर्वरक जो पोटैशियम प्रदान करते है, पोटैशियम युक्त उर्वरक कहलाते है, जैसे – पोटैशियम सल्फेट, म्यूरियेट ऑफ पोटाश आदि।

(ब) जटिल अथवा संयुक्त उर्वरक (Complex fertilizers) :–

जिन उर्वरकों में एक से अधिक प्राथमिक पोषक तत्व होते है तथा उनमें से दो प्राथमिक पोषक तत्व रसायनिक संयोजन मे विद्यमान होते है वे जटिल (Complex) अथवा बहुतत्वीय उर्वरक (Multiple nutrient fertilizers) कहलाते है। ये प्रायः दानेदार रूप में तैयार किये जाते है। जब इन जटिल उर्वरकों में दो प्राथमिक पोषक तत्व विद्यमान होते है, तो इन्हें अपूर्ण जटिल उर्वरक कहते है, उदाहरणार्थ – अमोनियम फॉस्फेट, नाइट्रोफॉस्फेट, पोटैशियम नाइट्रेट, डाइ अमोनियम फॉस्फेट आदि। लेकिन जब इन जटिल उर्वरकों में तीनों ही प्राथमिक पोषक तत्व विद्यमान होते है तो इन्हें पूर्ण जटिल उर्वरक कहते है, जैसे – नाइट्रोफॉस्फेट पोटाश युक्त श्रेणी (ग्रेड) I व II आदि।

(स) मिश्रित उर्वरक अथवा उर्वरक मिश्रण (Mixed fertilizer or fertilizer mixture) –

प्राथमिक पोषक तत्व युक्त दो अथवा दो से अधिक उर्वरकों के उपयुक्त अनुपात में भौतिक मिश्रण को मिश्रित उर्वरक अथवा उर्वरक मिश्रण कहते है। इनके द्वारा सन्तुलित मात्रा में पोषक तत्वों की पूर्ति की जा सकती है। यदि सरल उर्वरकों का फसलों में प्रयोग किया जाता है, तो निश्चित रूप से श्रम की लागत मिश्रित उर्वरकों की अपेक्षा अधिक आती है। अतः मिश्रित उर्वरकों के प्रयोग से श्रम की लागत में कमी की जा सकती है।

जटिल उर्वरकों में पोषक तत्व एक निश्चित अनुपात में विद्यमान होते है। अतः ये विभिन्न प्रकार की मृदाओं के लिए सदैव अनुकूलित नहीं होते है। सामान्यतः विभिन्न प्रकार की मृदाओं की आर्थिक आधार पर आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र मिश्रित उर्वरकों द्वारा ही की जा सकती है।

(ख) प्राथमिक पोषक तत्वों की मात्रा/सांद्रण के आधार पर –

(अ) निम्न विश्लेषण उर्वरक (Low analysis fertilizer) :– वे उर्वरक जिनमें प्राथमिक पोषक तत्वों की कुल मात्रा 25% से कम होती है। जैसे सिंगल फॉस्फेट (16%P_2O_5) सोडियम नाइट्रेट (16%N) आदि।

(ब) उच्च विश्लेषण उर्वरक (High analysis fertilizer) :– वे उर्वरक जिनमें प्राथमिक पोषक तत्वों की कुल मात्रा 25% से अधिक होती है। जैसे यूरिया (46%N), अमोनियम फास्फेट (20% N व 20% P_2O_5), डाइ अमोनियम फास्फेट (18% N व 46% P_2O_5), पोटैशियम क्लोराइड (58-60% K_2O)।

(ग) भौतिक अवस्था के आधार पर –

(अ) ठोस उर्वरक (Solid fertilizer) :–

अधिकांश उर्वरक ठोस अवस्था में आते है। ये भी कई प्रकार के होते है–

1. धूल/चूर्ण (Dust) :– जिप्सम, सिंगल सुपर फॉस्फेट
2. क्रिस्टल (Crystal) :– अमोनियम सल्फेट
3. दानेदार (Prills) :– यूरिया, डाई अमोनियम फॉस्फेट
4. कणाकार (granules) :– हालैण्ड ग्रेन्यूल
5. उच्च कणाकार (super granules) :– यूरिया सुपर ग्रेन्यूल (USG)
6. ब्रिकेट (Briquettes) :– यूरिया ब्रिकेट्स

(ब) द्रव उर्वरक (Liquid fertilizer) :–

सीधे तौर पर या सिंचाई जल के साथ प्रयोग करने के लिए कुछ उर्वरक द्रव अवस्था में भी आते है। संभालने में आसानी, कम श्रम की आवश्यकता और खरपतवारनाशी रसायनों के साथ मिलानें की संभावना के कारण द्रव उर्वरक की स्वीकार्यता किसानों में बढ़ रही है। ये दो प्रकार के होते है।

क्र.सं.	उर्वरक का नाम	उर्वरक जिसके साथ मिश्रण में कदापि न मिलाये
1.	अमोनियम सल्फेट, अमोनियम सल्फेट नाइट्रेट, अमोनियम क्लोराइड एवं अन्य अमोनिकल उर्वरक, कैल्सियम अमोनियम नाइट्रेट (किसान खाद) तथा नत्रजन युक्त जीवांश खादों को।	चूना
2.	सोडियम नाइट्रेट अथवा पोटैशियम नाइट्रेट यूरिया तथा किसान खाद को।	सुपरफॉस्फेट
3.	सुपरफॉस्फेट को।	चूना या राख अथवा कैल्सियम कार्बोनेट

1. स्पष्ट द्रव उर्वरक (Clear liquid fertilizers) :– जब नत्रजन, फॉस्फोरस एवं पोटैशियम उर्वरक पानी में पूर्ण रूप में धुल जाते है स्पष्ट द्रव कहलाते है।

2. निलम्बन द्रव उर्वरक (Suspension liquid fertilizers) :– जब उर्वरक सामग्री का कुछ अंश महीन कणों के रूप में निलम्बन अवस्था में रहता है।

(घ) पोषक तत्व की उपस्थिति के आधार पर

उर्वरक में उपस्थित पोषक तत्व के आधार पर नत्रजन उर्वरक, फॉस्फोरस उर्वरक, सूक्ष्म पोषक तत्व उर्वरक, लोहा उर्वरक आदि कहलाते है।

1. **नत्रजन युक्त उर्वरक** – इस वर्ग के उर्वरकों में नत्रजन विद्यमान होती है, उदाहरणार्थ अमोनियम सल्फेट, यूरिया, अमोनियम क्लोराइड आदि इन उर्वरकों को पुनः चार उपवर्गों में विभाजित किया जाता है –

(i) नाइट्रेट उर्वरक – इन उपवर्ग के नत्रजन युक्त उर्वरकों में नत्रजन सदैव नाइट्रेट के रूप में होते है, जैसे – सोडियम नाइट्रेट, कैल्सियम नाइट्रेट, पोटैशियम नाइट्रोफॉस्फेट आदि।

(ii) अमोनीकल उर्वरक – इस उपवर्ग के नत्रजन युक्त उर्वरकों में नत्रजन सदैव अमोनियम के रूप में होती है, जैसे – अमोनियम सल्फेट, अमोनियम क्लोराइड, अमोनियम फॉस्फेट आदि।

(iii) नाइट्रेट एवं अमोनिकल नत्रजन युक्त उर्वरक – इस उपवर्ग के नत्रजन युक्त उर्वरकों में नाइट्रेट व अमोनिया दोनों ही रूपों में विद्यमान होती है, जैसे – अमोनियम सल्फेट नाइट्रेट, कैल्सियम अमोनियम नाइट्रेट आदि।

(iv) एमाइड उर्वरक – इस उपवर्ग के उर्वरकों में नत्रजन सदैव एमाइड के रूप में होती है, जैसे – यूरिया, कैल्सियम सायनामाइड आदि।

2. **फॉस्फोरस युक्त उर्वरक** – फॉस्फोरस प्रदान करने वाले सभी उर्वरक इस वर्ग में सम्मिलित किये जाते है, जैसे – सुपर फॉस्फेट, शैल फॉस्फेट आदि। इस वर्ग के उर्वरकों को उनकी विलेयता के आधार पर निम्नलिखित तीन उपवर्गों में विभाजित किया जाता है –

(i) जल विलेय फॉस्फोरस उर्वरक – इस उपवर्ग के उर्वरक जल में शीघ्र घुलनशील होते है, जैसे – सिंगल सुपर फॉस्फेट, ट्रिपल सुपर फॉस्फेट, मोनो–अमोनियम फॉस्फेट, डाइ अमोनियम फॉस्फेट आदि। पौधों को आसानी से उपलब्ध होते है।

(ii) साइट्रेट विलेय फॉस्फोरस युक्त उर्वरक – इस उपवर्ग के उर्वरक जल में अघुलनशील एवं साइट्रिक अम्ल में घुलनशील होते है। जैसे – डाई कैल्शियम फॉस्फेट। पौधों को उपलब्धता मध्यम होती है।

(iii) जल तथ साइट्रेट में अविलेय फॉस्फोरस युक्त उर्वरक – इस उपवर्ग के उर्वरक जल और साइट्रेट दोनों में अघुलनशील होते है, जैसे – शैल फॉस्फेट, हड्डी की खाद आदि। उपस्थित फॉस्फोरस पौधों को धीरे–धीरे उपलब्ध होता है अतः लम्बी अवधि वाली फसलों आदि के लिए अधिक उपयुक्त है।

3. **पोटैशियम युक्त उर्वरक** – ऐसे उर्वरक जो पोटैशियम प्रदान करते है, पोटैशियम युक्त उर्वरक कहलाते है, जैसे – पोटैशियम सल्फेट, म्यूरेट ऑफ पोटाश, पोटैशियम नाइट्रेट, आदि। इस वर्ग के उर्वरकों को मुख्य रूप से दो उपवर्गों में निम्नलिखित प्रकार से विभाजित किया गया है –

(i) क्लोराइड युक्त उर्वरक – वे पोटैशियम उर्वरक जिनमें क्लोराइड पाया जाता है। इस उपवर्ग में म्यूरेट ऑफ पोटाश (पोटैशियम क्लोराइड) आता है। गन्ना, आलू, तम्बाकू आदि फसलों की गुणवत्ता प्रभावित होती है अतः इन फसलों में इन उर्वरकों का उपयोग नहीं करना चाहिए।

(ii) क्लोराइड रहित पोटैशियम उर्वरक – वे पोटैशियम उर्वरक जिनमें क्लोराइड नहीं पाया जाता है। इस उपवर्ग में पोटैशियम सल्फेट, पोटैशियम नाइट्रेट आदि सम्मिलित किये जाते है।

(ङ) मृदा पर प्रभाव के आधार पर –

लगभग सभी प्रकार के उर्वरक, उपयोग के पश्चात् मृदा पर अपना प्रभाव डालते है। प्रकृति के अनुसार उपयोग के बाद उर्वरक मृदा की अम्लीयता या क्षारीयता बढ़ाते है। इस आधार पर इन्हे निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है –

(अ) अम्लीय उर्वरक (Acid forming fertilizers) :– जो उर्वरक मृदा में अम्लीय अवशिष्ट प्रभाव (Acidic residual effect) छोड़ते है, उन्हें अम्लीय उर्वरक कहते है। इन उर्वरकों के अवशिष्ट अम्लीय प्रभाव को उदासीन/प्रभावहीन करने के लिए आवश्यक कैल्सियम कार्बोनेट (चूना) की मात्रा को तुल्यांकी या समकक्ष अम्लीयता (equivalent acidity) कहते है।

उदाहरणार्थ 100 किग्रा अमोनियम सल्फेट उर्वरक के उपयोग करने पर उत्पन्न अवशिष्ट अम्लीयता को उदासीन करने के लिए 110 किग्रा. कैल्सियम कार्बोनेट की आवश्यकता होती है अतः अमोनियम सल्फेट की तुल्यांकी अम्लीयता 110 किग्रा होती है। ये उर्वरक क्षारीय मृदाओं की क्षारीयता कम करने में सहायक होते है। अम्लीय उर्वरकों की तुल्याकी अम्लीयता निम्नानुसार होती है –

उर्वरक	तुल्यांकी अम्लीयता
एनहाइड्रस अमोनिया	148
अमोनियम क्लोराइड	128
अमोनियम सल्फेट	110
अमोनियम सल्फेट नाइट्रेट	93
अमोनियम फॉस्फेट	86
यूरिया	80

(ब) क्षारीय उर्वरक (Alkaline forming fertilizers) :– इसी प्रकार कुछ उर्वरक उपयोग में लेने के बाद मृदा पर क्षारीय प्रभाव छोड़ते है। इनकों क्षारीय उर्वरक कहते है।

क्षारीय उर्वरक और उनकी तुल्यांकी क्षारीयता (Equivalent basicity) निम्न प्रकार है –

उर्वरक	तुल्यांकी क्षारीयता
सोडियम नाइट्रेट	29
कैल्सियम नाइट्रेट	21
कैल्सियम सायनामाइड	63
डाइकैल्सियम फॉस्फेट	25

उर्वरक की श्रेणी या ग्रेड (Fertilizer grade) – किसी उर्वरक की श्रेणी या ग्रेड इस बात का द्योतक है, कि उसमे प्राथमिक पादप पोषक तत्वों की कितनी प्रतिशत मात्रा है। 'श्रेणी' शब्द जटिल और मिश्रित दोनों ही प्रकार के उर्वरकों के लिए प्रयोग किया जाता है। इसके अन्तर्गत प्राथमिक पोषक तत्व निम्नलिखित क्रमानुसार प्रतिशत मात्रा के अनुपात में व्यवस्थित होते है –

कुल नाइट्रोजन	:	N
फॉस्फोरस पेन्टा ऑक्साइड	:	P_2O_5
जल विलेय पोटाश	:	K_2O

उपर्युक्त अनुपात की अभिव्यक्ति प्रायः N:P:K से करते है। यदि कोई उर्वरक अथवा उर्वरक का मिश्रण 16:12:8 श्रेणी (ग्रेड) का है, तो इसका तात्पर्य यह है कि अमुक उर्वरक या उर्वरक मिश्रण में 16 भाग नाइट्रोजन (N), 12 भाग फॉस्फोरस पेन्टा ऑक्साइड (P_2O_5) और 8 भाग जल विलेय पोटाश K_2O विद्यमान है। अतः उपर्युक्त 100 किलोग्राम उर्वरक अथवा उर्वरक मिश्रण में 36 किलोग्राम (16+12+8) प्राथमिक पादप पोषक तत्व विद्यमान है।

विभिन्न फसलों की आवश्यकतानुसार इस समय अनेक श्रेणी (ग्रेड) के उर्वरक प्रचलित है। उर्वरक मिश्रण सम्बन्धी निर्देशों का पालन करते हुए सरल एवं मिश्रित उर्वरकों से वांछित श्रेणी के उर्वरक सफलता पूर्वक बना सकते है।

उर्वरक अनुपात (Fertilizer ratio) – यह उर्वरक अथवा उर्वरक मिश्रण में निहित नाइट्रोजन (N), फॉस्फोरस पेन्टा ऑक्साइड (P_2O_5) और जल विलेय पोटाश K_2O का पारस्परिक अनुपात होता है, उदाहरणार्थ – उपर्युक्त 16–12–8 श्रेणी के उत्पाद में अनुपात 4:3:2 का है। इस अनुपात से इस बात का पता चलता है, कि उत्पाद उर्वरक या उर्वरक मिश्रण में नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और पोटाश किस अनुपात में मिश्रित है।

उर्वरक प्रयोग की विधियाँ (Methods of fertilizer application) :–

उर्वरक कई विधियों से प्रयोग किए जाते है। उर्वरक प्रयोग के समय विधि का चयन करते समय इस बात का ध्यान रखते है कि पौधों को पोषक तत्व आसानी से उपलब्ध हो जाये, उर्वरको का कम से कम ह्रास हो और उनके प्रयोग में आसानी रहे, अर्थात् उर्वरकों की उपयोग दक्षता (Fertilizer use efficiency) बढ़ाई जा सके। उर्वरक प्रयोग करने की विधि के चयन में कई बातों का ध्यान रखा जाता है। इनमें मृदा की प्रकृति, फसल की प्रकृति और उर्वरक की प्रकृति मुख्य होती है।

उर्वरक प्रयोग करने की विधियाँ कई बातों पर निर्भर करती है, जिनमें प्रमुख रुप से मृदा की किस्म, मृदा की तलरुपता, मृदा में नमी की मात्रा, मौसम की दशा (जलवायु), फसल की किस्म व आयु, उर्वरक की किस्म व उर्वरक में पोषक तत्वों की उपलब्धता उर्वरक की उपलब्धता व इकाई मूल्य, उर्वरक के प्रयोग करने में काम आने वाले यन्त्र आदि की उपलब्धता, श्रम की उपलब्धता आदि है।

इनके अतिरिक्त मृदा गठन, पी एच मान, धनायन विनिमय क्षमता (CEC), पोषक तत्व, स्तर मृदा में कार्बन का स्तर फसल का जड़ तंत्र और पौध अंतरण (पौधे से पौधे और कतार से कतार

की दूरी) उर्वरक की भौतिक अवस्था मृदा में घुलनशीलता व गतिशीलता आदि उर्वरक प्रयोग की उपर्युक्त विधि के चयन को प्रभावित करते है।

उर्वरकों के प्रयोग करने की विधियाँ –

(A) ठोस (Solid) रुप में उर्वरकों का प्रयोग –

(अ) छिटकवाँ विधि (Broadcasting method)

(i) बुआई के समय छिड़कना (Broadcasting) एवं बुआई के समय कूँड़ में खाद देना (Basal Application)

(ii) खड़ी फसल में उर्वरक देना (Top dressing) छिटकवाँ विधि (Broadcasting) या स्पॉट ड्रेसिंग (Spot dressing) या साइड ड्रेसिंग (Side dressing)

(ब) संस्थापन विधि (Placement)

(i) हल दुस्तर संस्थापन (Plough sole placement)

(ii) गहन–संस्थापन (Deep placement)

(iii) अधोभूमिक संस्थापन (Sub soil placement)

(स) स्थानिक संस्थापन (Localized Placement)

(i) डिबलिंग संस्थापन (Dibbling placement)

(ii) ड्रिलिंग संस्थापन (Drilling placement)

(iii) पट्टी संस्थापन (Band placement) – Row or Hill placement

(iv) गोलिका संस्थापन (Ball or pellet placement)

(v) रिंग संस्थापन (Ring placement)

(vi) सम्पर्क (Contact) संस्थापन

द्रव (Liquid) रुप में उर्वरक का प्रयोग –

(1) प्रारम्भिक उर्वरक घोल (Starter fertilizer solution)

(2) सिंचाई के जल के साथ उर्वरकों का प्रयोग अर्थात उर्वरिकृत सिंचाई (Application of fertilizer in irrigation water, Fertigation)

(3) तत्वों के घोल का पौधों पर छिड़काव (Foliar application or spray of fertilizers)

(4) बीजों को तत्वों के घोल में डुबाना (Sinking seed with nutrient solution)

(5) बीजों के ऊपर तत्वों के सान्द्र घोल की परत चढ़ाना (Coating seed with nutrients paste)

(6) पौधों में तत्व के घोल का इन्जेक्शन देना (Injection of nutrient solution into the plants)

(7) मृदा में उर्वरक घोल का प्रत्यक्ष प्रयोग (Direct application to the soil)

(अ) छिटकवाँ विधि –

1. **बुआई के समय** – इस विधि से कम्पोस्ट खाद व गोबर की खाद को फसल बोने से पूर्व खेत में बिखेर देते हैं और बाद में हल चलाकर इसको मिट्टी में मिला देते हैं। नत्रजन के उर्वरक भी फसल बोने से पहले व खड़ी फसल में बिखेर दिये जाते है। इस विधि में उर्वरक की मात्रा अधिक खर्च होती है। सिंचाई के उचित प्रबन्ध न होने पर यह विधि प्रयोग की जा सकती है। जिन मृदाओं में अधिक खरपतवार होते हैं वहाँ पर इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। जिन फसलों की तत्वों सम्बन्धी आवश्यकता अधिक होती है उनमें भी यह विधि काम में नहीं लेनी चाहिये। फॉस्फेटिक व पोटैशिक उर्वरक इस विधि से प्रयोग नहीं करने चाहिये क्योंकि इनकी घुलनशीलता व गतिशीलता कम होती है तथा इनका स्थिरीकरण शीघ्र हो जाता है। इस विधि से श्रम व समय की बचत होती है। असमतल अर्थात् ढालू मृदाओं में इस विधि का प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि सिंचाई व वर्षा के समय उर्वरक घुलकर नीचे की ओर बह सकता है। बलुई मृदाओं में इस विधि से उर्वरकों का प्रयोग भी अधिक लाभदायक नहीं होता। इस विधि में पौधों को बराबर मात्रा में पोषक तत्व प्रदान नहीं होते, तत्वों का ह्रास भी इस में अधिक होता है। बुआई के समय खेत में उर्वरक देना बेसल ड्रेसिंग (Basal dressing) कहलाता है।

2. **खड़ी फसल में उर्वरक देना** – खड़ी फसल में उर्वरक देना टॉपड्रेसिंग (Top dressing) कहलाता है। अधिकांशतः घनी फसलों में उपयोग किया जाता है। खड़ी फसलों में उर्वरक परिस्थितियों के अनुसार बिखेर (Broadcasting) सकते हैं या पंक्तियों के किनारे (Side dressing) पर डाल सकते हैं जिन फसलों में पौधों की अधिक दूरी होती है, वहां पर उर्वरक पौधों

के चारों ओर या एक ओर डाल दिया जाता है जैसे मक्का आदि। इस विधि को स्पॉटड्रेसिंग कहते है। खड़ी फसलों में पौधों को उनकी आवश्यकतानुसार उर्वरक देते हैं। इस विधि में पौधों की गीली पत्तियों पर उर्वरक पड़ जाने से पत्ती झुलसने का डर बन जाता है। अतः शुष्क मौसम में जब पत्ती गीली न हो, उर्वरक डालना चाहिये। बड़े क्षेत्रों में ठोस उर्वरकों को वायुयान की सहायता से भी छिड़क सकते हैं। पोषक तत्वों का ह्रास इस विधि में अधिक होता है।

(ब) संस्थापन विधि–

इस विधि में उर्वरक को मृदा में किसी उचित गहराई पर डाल देते है। इसमें निम्न विधियाँ काम में लाते हैं–

(i) हल दुस्तर संस्थापन – विशेष रुप से जिन उर्वरकों में तत्वों का स्थिरीकरण होता है उन सभी उर्वरकों को संस्थापन विधि से देना लाभकारी है। जब मृदा की ऊपरी सतह में नमी का अभाव होता है तब भी यह विधि अपनाई जाती है और उर्वरक उचित गहराई पर जहाँ मृदा में नमी उचित स्तर पर होती है डाल दिया जाता है। इस विधि में उर्वरकों का प्रयोग करने के बाद खेत में जुताई नहीं की जा सकती। कभी–कभी उर्वरक अधिक गहराई पर पहुँच जाते है जिससे इनके पोषक तत्वों का पोषण, छोटे पौधों की जड़ों द्वारा नहीं किया जा सकता। ठण्डे स्थानों पर अमोनिकल नत्रजन अधिक गहराई पर पहुंच जाने के कारण नाइट्रेट नत्रजन में परिवर्तित नहीं हो पाती। अतः नत्रजन आसानी से पौधों को उपलब्ध नहीं हो पाती।

(ii) गहन संस्थापन – यह विधि जापान में, धान के खेतों में नत्रजन के उर्वरकों का प्रयोग करने में अपनाई जाती है। इस विधि में अमोनिकल नत्रजन वाले उर्वरकों को काफी गहराई पर प्रयोग करते हैं। जिसमें नत्रजन, अमोनिकल रुप में ही रहकर पौधों को अधिक समय तक प्राप्त होती रहे। धान के पौधे नत्रजन को अमोनिकल रुप में ही अधिक प्राप्त करते है। इस विधि में उर्वरकों का पानी में बहकर, नष्ट होना असम्भव होता है। इस विधि से फॉस्फोरस उर्वरक का भी मृदा में प्रयोग कर सकते है।

(iii) अधोमृदा संस्थापन– इस विधि में उर्वरकों का प्रयोग मशीनों या भारी हलों की सहायता से अधोमृदा में करते हैं। यह विधि आर्द्र एवं उप आर्द्र क्षेत्रों में जहाँ पर मृदा अम्लीय होती है, प्रयोग करते है। इन क्षेत्रों में अच्छे जड़ विकास के लिए पोटाश व फॉस्फोरस के उर्वरकों का प्रयोग करते है।

(स) स्थानीय संस्थापन विधि–

इस विधि का प्रयोग उस समय करते हैं जब उर्वरकों की मात्रा कम होती है। इस विधि में उर्वरक पौधों की जड़ों के समीप ही प्रयोग किये जाते है। अतः पोषक तत्व आसानी से पौधों को उपलब्ध हो जाते है। इस विधि में उर्वरक की मात्रा कम लगती है। पोषक तत्वों का स्थिरीकरण कम होता है। इस विधि में कभी–कभी बीजों के पास उर्वरकों का एकत्रीकरण होने से बीजों का अंकुरण सम्भव नहीं होता, और यदि अंकुरण हो भी जाये तो बीजांकुर की बढ़वार पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कभी–कभी पौधे प्रारम्भिक अवस्था में ही नष्ट भी हो जाते है। स्थानीय संस्थापन विधि में उर्वरक डिबलर व ड्रिल्स के द्वारा खेत में देते हैं खड़ी फसल में पट्टी का संस्थापन करना बैंड प्लेसमेन्ट कहलाता है। उर्वरकों का गोलिका के रुप में प्रयोग धान के खेतों में करते है और गोलिका धान के पौधे के समीप कीचड़ में रख देते है। आवश्यकतानुसार मिट्टी के 10–12 भाग में एक भाग उर्वरक मिलाकर छोटी – छोटी गोलियाँ बना ली जाती है। नत्रजन उर्वरकों को पक्तियों के 2.5 से 5 सेमी. पर इस विधि द्वारा प्रयोग किया जाता है। बगीचो में फलदार वृक्षों जैसे – पपीता, आदि के चारों ओर रिंग के आकार में भूमि में उर्वरक देना रिंग संस्थापन कहलाता है।

द्रव रुप में उर्वरकों का प्रयोग :–

विभिन्न विधियों द्वारा उर्वरकों को द्रव रुप में प्रयोग किया जा सकता है–

(1) प्रारम्भिक उर्वरक घोल– विभिन्न उर्वरकों के घोल प्रायः N, P_2O_5, K_2O की 1:2:1 या 1:1:2 आदि के अनुपात में तैयार करते हैं इन घोलों का प्रयोग प्रायः रोपण के समय सब्जियों आदि की फसल में करते हैं और साथ ही हल्की सिंचाई कर देते हैं इस विधि में पौधों की जड़े आसानी से पोषक तत्व ग्रहण करके, खेत में शीघ्र ही पौधों को स्थापित कर देती हैं। प्रारम्भिक घोलों का प्रभाव पौधों की वृद्धि पर लाभदायक होता है। कभी–कभी उन फसलों में जिनमे सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती, इस विधि से उर्वरक देने से अतिरिक्त श्रम, समय व पूंजी खर्च होती है।

(2) पोषक तत्वों के घोल का पौधों पर छिड़काव (Foliar application of fertilizer) – पौधों की पत्तियों पर हल्के घोल का छिड़काव ही पर्ण अनुप्रयोग या पर्णीय छिड़काव कहलाता है। उर्वरकों का यह घोल, छिड़काव करने वाले यन्त्रों, जिन्हें स्प्रेयर (Sprayer) कहते हैं, के द्वारा किया जाता है

अनुसंधानों के आधार पर उर्वरकों को भूमि में देने या पौधों पर छिड़कने से जो परिणाम प्राप्त हुए है उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं हैं। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में घोल का पौधों पर छिड़कना लाभदायक पाया जाता है। घोल के रुप में उर्वरकों को पौधों पर छिड़कने के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं–

(1) कम मात्रा में उर्वरकों की आवश्यकता होती है।

(2) कम मात्रा का सम्पूर्ण क्षेत्र में, समान वितरण किया जा सकता है।

(3) पोषक तत्वों का पौधों द्वारा उपयोग अच्छा होता है।

(4) सूक्ष्म तत्व जो मृदा में जाकर स्थिर हो सकते हैं इस विधि से, उनकी हानि से कम किया जा सकता है।

(5) ऊँचे नीचे एवं रेतीले (भूमियाँ) खेतों में भी, उर्वरकों का समान वितरण हो जाता है।

(6) जहाँ पर सिंचाई के साधन कम होते हैं अर्थात् मृदा में नमी के अभाव के कारण, ठोस रुप में उर्वरकों का प्रयोग नहीं किया जा सकता, वहाँ पर इस विधि के प्रयोग से काफी लाभ उठाया जा सकता है। मृदा नमी के अभाव में पौधे पोषक तत्वों का चूषण नहीं कर सकते।

(7) उर्वरकों के घोल में, अन्य कीटनाशक या रोगनाशक रसायनों को भी पौधों पर छिड़का जा सकता है।

(8) लवणीय मृदाओं में जहाँ पर कि नत्रजन का गैस के रुप में नष्ट होने का डर रहता है। वहाँ पर नत्रजन की हानि को बचाया जा सकता है।

(9) जलमग्न भूमियों में नत्रजन का डिनाइट्रीफिकेशन हो जाता है। इस विधि के प्रयोग से इस प्रकार से नत्रजन की हानि को कम किया जा सकता है।

(10) फल वाले वृक्षों में सूक्ष्म तत्वों को इस विधि से देकर लाभ उठाया जा सकता है।

(11) जब पौधों पर साथ के साथ लाभदायक परिणाम प्राप्त करने हो तो इस विधि का प्रयोग सर्वोत्तम है।

(12) खड़ी फसल में पोषक तत्वों की कमी के लक्षण उत्पन्न होने पर इस विधि द्वारा उर्वरक उपयोग करके कमी तुरन्त दूर की जा सकती है।

(3) सिंचाई जल के साथ उर्वरकों का प्रयोग (Fertigation) – इस विधि में सिंचाई की नालियों में, पानी में घुलनशील उर्वरकों को डाल देते हैं। इस प्रकार उर्वरक घुलकर, पानी के साथ खेतों में पहुँच जाता है। इस विधि से उर्वरक को खेत में डालने से श्रम व समय बच जाता है। जिन खेतों का धरातल समतल नहीं होता वहाँ पर इस विधि का प्रयोग नहीं करना चाहिये। द्रव रुप में उर्वरकों का प्रयोग करने पर कभी–कभी जड़ों की वृद्धि पर बुरा प्रभाव पड़ता है उर्वरकों की कम मात्रा का भी इस विधि में समान वितरण हो जाता है। फुहारा एवं बूंद – बूंद सिंचाई प्रणाली द्वारा इस विधि का अच्छा उपयोग हो रहा है। उर्वरक घोल का एक समान वितरण करने के लिए फुहारा एवं बूंद – बूंद सिंचाई प्रणाली में वेन्च्यूरी (Venturi) का उपयोग किया जाता है।

(4) मृदा में उर्वरक घोल का प्रत्यक्ष प्रयोग – घोल के रुप में उर्वरक प्रयोग करने का ढंग विदेशों में काफी प्रचालित है। अमोनिया के घोल व फास्फोरस को मृदा सतह में 10 सेमी. गहरे छोड़ते है। इससे अमोनिया की हानि बहुत कम होती है। साथ ही साथ पौधों को भी इस विधि से कोई हानि नहीं होती है।

(5) बीजों को पोषक तत्वों के घोल में डुबोना– इस विधि में सूक्ष्म तत्वों जैसे लोहा आदि के यौगिकों के घोल में, बीजों को किसी निश्चित समय तक डुबो कर रखते हैं और बाद में खेत में बो देते है। इस विधि में घोल की सान्द्रता इतनी रखी जाती है कि बीजों के ऊपर इसका कोई हानिकारक प्रभाव न पड़े। साथ ही निश्चित सान्द्रता में, बीजों को निश्चित समय तक ही डुबोना लाभदायक होता है।

(6) बीजों के ऊपर सान्द्र घोल की परत चढ़ाना – इस विधि में भी सूक्ष्म तत्व जैसे ताँबा, लोहा व जस्ता आदि के गाढ़े घोल की परत बीजों पर चढ़ा लेते है। मृदाओं में जिस सूक्ष्म तत्व की कमी होती है, फसल के बीजों पर उसी की परत चढ़ा देते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म तत्वों की कमी, पौधों की बढ़वार में बाधक नहीं होती। इस विधि में सूक्ष्म तत्वों का वितरण ठीक हो जाता है।

(7) पौधों में तत्वों के घोल का इन्जेक्शन देना – इस विधि में सूक्ष्म तत्वों के घोल की सुई (Injection) को जड़ों या तनों में लगाया जाता है। इनमें अनुभवी आदमी ही पौधों के जाइलम (Xylem) में, तत्वों के घोल को इन्जेक्शन द्वारा पहुंचा सकता है। जिस तत्व की कमी के लक्षण पौधे पर दिखाई देते हैं उसी तत्व का घोल पौधों को दिया जाता है। फल वाले वृक्षों में लोहे की कमी विशेष रुप से इस विधि से पूरी की जाती है। कभी–कभी तत्वों के घोल को, पौधों की जड़ों के पास भी इन्जेक्शन के द्वारा मृदा में दिया जाता है। खड़ी फसल में फॉस्फोरस को भी इस विधि से दे सकते हैं।

उर्वरकों के मृदा प्रयोग तथा पर्णीय छिड़काव में तुलना

मृदा प्रयोग (Soil application)	पर्णीय छिड़काव (Foliar application)
1. पोषक तत्वों की उद्वीलन स्थिरीकरण तथा अपधावन से काफी हानि हो सकती है।	1. इस विधि का प्रयोग करने से पोषक तत्वों को इन हानियों से बचाया जा सकता है।
2. उर्वरकों की अधिक मात्रा प्रयोग होती है तथा उर्वरक ठोस रुप में प्रयोग होते है।	2. उर्वरकों की कम मात्रा प्रयोग की जाती है तथा उर्वरक घोल के रुप में प्रयोग करते हैं।
3. ऊँचे नीचे खेतो में पोषक तत्वों का समान वितरण नहीं हो पाता। ऊँचे खेतों में पोषक तत्व वर्षा या सिंचाई के पानी में घुलकर नीचे के खेतों में पहुँच जाते हैं।	3. पोषक तत्वों का घोल के रुप में ऊँचे व निचले खेतों में समान वितरण होता है।
4. मृदा में प्रयुक्त उर्वरकों का प्रभाव, प्रयोग करने की अपेक्षाकृत अधिक दिनों बाद प्रारम्भ होता है।	4.घोल के रुप में उर्वरकों का प्रयोग करने से, तत्व का प्रभाव पौधों पर शीघ्र होता है।
5. लवणीय भूमि में यूरिया आदि डालने से नत्रजन की गैस के रुप में हानि होती है।	5. लवणीय भूमि में यूरिया की वनस्पति पर छिड़कने के कारण इस प्रकार की नत्रजन की हानि को रोका जा सकता है।
6. सूक्ष्म तत्वों के यौगिक जो कम मात्रा में प्रयोग होते हैं, समान वितरण नहीं हो पाता।	6. सूक्ष्म तत्वों के यौगिकों का घोल बनाकर, समान मात्रा में किसी भी क्षेत्र में छिड़का जा सकता है।
7. जिन मृदाओं में पौधों की जड़ें विकसित नहीं हो पाती वहाँ पर जड़े पोषक तत्वों का अवशोषण उचित मात्रा में नहीं कर पाती और पौधों की वृद्धि उचित नहीं हो पाती।	7. इस विधि में पोषक तत्वों का उपयोग पत्तियों, शाखाओं व तनों द्वारा होता है।
8. इस विधि से अचल तत्वों जैसे फास्फेट आदि का प्रयोग खड़ी फसल में नहीं हो पाता।	8. इस विधि से अचल तत्वों का प्रयोग खड़ी अवस्था में कर सकते है।
9. उर्वरकों को मृदा में प्रयोग करने से मृदा घोल अधिक सान्द्र होता है जिसके लिये मृदा में उचित नमी का स्तर बनाये रखने के लिए सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। अन्यथा सान्द्र घोल पौधों की बढ़वार के लिये हानिकारक हो सकता है।	9. इस विधि में उर्वरकों का हल्का घोल प्रयोग करते हैं। इसमें भी सान्द्र घोल पौधों की वृद्धि पर हानिकारक प्रभाव डालता है।
10. इस विधि को फसलों के फल आने की अवस्था तक भी प्रयोग कर सकते हैं।	10. इस विधि को पुष्प आने की अवस्था पर प्रयोग करने से फसलों की काफी हानि हो सकती है।
11. इस विधि से उर्वरकों को मृदा में लगातार प्रयोग करने से, मृदा की संरचना, जैविक दशा व रसायनिक दशा पर प्रभाव पड़ता है।	11. इस विधि से उर्वरकों का प्रयोग करने से मृदा पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता है।
12. इस विधि से उर्वरक प्रयोग करने से यदि वर्षा हो तो लाभ होता हैं।	12. इस विधि से उर्वरक छिड़कने से तुरन्त बाद यदि वर्षा हो जाये तो पत्तियों पर पोषक तत्व नहीं रूक सकते।
13. इस विधि से उर्वरक मृदा में मिलाने के लिए निराई गुड़ाई या सिंचाई करनी पड़ती है अतः अरिरिक्त श्रम व समय नष्ट होता है तथा पूंजी अधिक लगती है।	13. इस विधि से इस प्रकार का कोई अन्य श्रम व पूंजी व्यय नहीं होता है।
14. सभी पोषक तत्वों को फसलों में प्रयोग किया जा सकता है।	14. इस विधि द्वारा सीमित तत्वों का प्रयोग ही संभव है।
15. कवकनाशी, कीटनाशी आदि रसायनों को उर्वरकों के साथ नहीं दिया जा सकता है।	15. उर्वरको के घोल के साथ, फसल सुरक्षा सम्बन्धी अन्य रसायन दिये जा सकते है अतः खर्च कम आता है।

उर्वरकों में पोषक तत्वों की प्रतिशत मात्रा :–

खाद का नाम	नत्रजन %	फॉस्फोरस %	पोटाश %	अन्य
(1.) नत्रजन उर्वरक				
अ. अमोनियम उर्वरक				
1. अमोनियम सल्फेट	20.6			23.7 (S)
2. अमोनियम क्लोराइड	26			
3. एनहाड्रस अमोनिया	82			
ब. नाइट्रेट उर्वरक				
1. कैल्शियम नाइट्रेट	15.5			19.5(Ca), 1.5 (Mg)
2. सोडियम नाइट्रेट	16			
3. पोटेशियम नाइट्रेट	13		44	
स.नाइट्रेट एवं अमोनियम उर्वरक				
1. अमोनियम सल्फेट नाइट्रेट	26			12.1(S)
2. अमोनियम नाइट्रेट	33-34			
3. कैल्सियम अमोनियम नाइट्रेट (CAN किसान खाद)	25			8.1(Ca), 4.5(Mg)
द. एमाइड उर्वरक				
1. यूरिया	46			
2. कैल्सियम सायनामाइड	21			39.1(Ca)
(2.) फॉस्फोरस संयुक्त उर्वरक				
अ. जल में घुलनशील				
1. सुपर फॉस्फेट (एकल) (SSP)		16		19.5(Ca), 12.5(S)
2. सुपर फॉस्फेट (डबल)		32		
3. सुपर फॉस्फेट (ट्रिपल)		48		14.3 (Ca), 4(S)
4. अमोनियम फॉस्फेट	16/20	20		
5. डाइ अमोनियम फॉस्फेट (DAP)	18	46		
ब. साइट्रिक अम्ल में घुलनशील				
1. डाइकैल्सियम फॉस्फेट		34-39		23(Ca)
2. बेसिक स्लेग		14-18		15-33(Ca), 1.8-9(Mg)
स. अघुलनशील				
1. रॉक फॉस्फेट		20-40		35-38(Ca)
2. हड्डी का चूरा (Bone meal)	3-4	20-25		23(Ca)
(3.) पोटाश युक्त उर्वरक				
1. म्यूरेट ऑफ पोटाश (पोटैशियम क्लोराइड)			58-60	
2. पोटैशियम नाइट्रेट	13		44	
3. सल्फेट ऑफ पोटाश (पोटैशियम सल्फेट)		48-52		17.5(S)
संयुक्त उर्वरक				
1. मोनो अमोनियम फॉस्फेट	11	48/55		
2. डाइ अमोनियम फॉस्फेट (DAP)	18	46		
3. एमोफास ए	11	46		
4. एमोफास बी	16.5	20		
5. नाइट्रो फॉस्फेट (सुफला)	20	20		
6. पोटैशियम नाइट्रो फॉस्फेट (नाइट्रो फॉस्फा)	15	30	15	
7. एन पी के (अनेक ग्रेड)	15	15	15	
8. यूरिया अमोनियम फॉस्फेट	28	28		
द. मृदा सुधारक				
1. जिप्सम				18.6-23.5(S),29.2(Ca)
2. डोलोमाइट				14-31.5(Ca),4-10.6(Mg)

सूक्ष्म तत्वों को प्रदान करने वाले उर्वरक यौगिक (Compounds)

सूक्ष्म तत्व	सूक्ष्म तत्वों को प्रदान करने वाले यौगिक	पोषक तत्व (%)	अन्य (%)
1. लोहा	फेरस सल्फेट ($FeSO_4.7H_2O$)	19 (Fe)	18.8(S)
	पाइराइट (FeS_2)	46.5 (Fe)	53.5(S)
2. मैंगनीज	मैंगनीज सल्फेट ($MnSO_4.4H_2O$)	26-28 (Mn)	
3. जस्ता	जिंक सल्फेट ($ZnSO_4.H_2O$)	33 (Zn)	17.8(S)
4. ताम्बा	कॉपर सल्फेट($CuSO_4.5H_2O$)	25 (Cu)	
5. बोरोन	बोरेक्स	10.60 (B)	
	सोल्यूबोर	19-21 (B)	
6. मोलिब्डेनम	सोडियम मोलिब्डेट	39 (Mo)	
	अमोनियम मोलिब्डेट	54 (Mo)	

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. पौधे की वृद्धि के लिए आवश्यक पोषक तत्व है ।
   (अ) 15 (ब) 17
   (स) 19 (द) 21
2. पौधों के लिए आवश्यक पोषक तत्वों को पुनः परिष्कृत कब किया गया?
   (अ) 1949 (ब) 1939
   (स) 1954 (द) 1960
3. मृदा में गतिशील पोषक तत्व हैं ।
   (अ) जस्ता (ब) फास्फोरस
   (स) ताँबा (द) नाइट्रेट
4. द्वितीयक पोषक तत्व कौनसा नहीं है?
   (अ) नाइट्रोजन (ब) फॉस्फोरस
   (स) पोटैशियम (द) उपरोक्त सभी
5. कोशिका की ऊर्जा मुद्रा (Energy Currency) कौन सा तत्व है?
   (अ) पोटाश (ब) फॉस्फोरस
   (स) बोरान (द) जस्ता
6. पौधों की पुरानी पत्तियों पर कौनसे तत्व की कमी के लक्षण दिखाई देते हैं?
   (अ) Mg व Mo (ब) Ca व B
   (स) Fe व Mn (द) S एवं Cl
7. मैंगनीशियम की कमी दूर करने के लिए मैंगनीशियम सल्फेट की प्रति हैक्टर आवश्यकता होती है ।
   (अ) 10–20 किलो (ब) 20–25 किलो
   (स) 25–50 किलो (द) 10 किलो से कम
8. अमोनियम सल्फेट की तुल्यांकी अम्लीयता कितनी होती है?
   (अ) 93 (ब) 110
   (स) 80 (द) 128
9. जिप्सम में कैल्सियम की मात्रा कितनी होती है?
   (अ) 29.2% (ब) 19.5%
   (स) 39.5% (द) 26.5%
10. सरल या एकल उर्वरक का उदाहरण है ।
   (अ) पोटैशियम सल्फेट
   (ब) अमोनियम फॉस्फेट
   (स) डाइ अमोनियम फॉस्फेट
   (द) उपरोक्त सभी
11. अग्रिम कलिका किस पोषक तत्व की कमी से सूख जाती है?
   (अ) मोलिब्डेनम (ब) फॉस्फोरस
   (स) मैगनीशियम (द) कैल्सियम

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न–

12. जस्ते का मुख्य कार्य क्या है ?
13. पुरानी पत्तियों पर किस–किस पोषक तत्व की कमी के लक्षण दिखाई देते हैं ?

14. मोलिब्डेनम की कमी के लक्षण कैसे होते हैं?

15. पोटैशियम का मुख्य कार्य क्या है?

16. जिंक की कमी कैसे दूर की जा सकती है?

17. पौधों द्वारा नाइट्रोजन किस–किस रूप में शोषित होती है ?

18. जटिल अथवा संयुक्त उवर्रक क्या होते हैं ?

19. उवर्रक अनुपात से क्या अभिप्राय है ?

20. ट्रॉपड्रेसिंग क्या होती है ?

21. Fertigation (फर्टीगेशन) क्या होता है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न–

22. पौधों में गंधक के कार्य क्या है ? लिखिए ।

23. पौधों के लिए आवश्यक पोषक तत्व के लिए कितने मापदण्ड हैं ? उनके बारे में बताइए।

24. क्रियात्मक पोषक तत्व कौन–कौनसे हैं ?

25. सूक्ष्म पोषक तत्वों के बारे में आप क्या समझते हैं ?

26. मृदा में गतिशीलता के आधार पर पोषक तत्वों को कितने भागों में बांटा गया है ?

निबन्धात्मक प्रश्न–

27. आवश्यक पोषक तत्व कितने हैं ? इनका वर्गीकरण करें ।

28. उर्वरकों के प्रयोग की विधियों के नाम लिखिए ।

29. उर्वरकों के मृदा प्रयोग तथा वर्णीय छिड़काव की तुलना करें ।

30. नाइट्रोजन के कार्य, कमी के लक्षण तथा दूर करने के उपायों को समझाइये।

31. उर्वरकों का फसल उत्पादन में महत्व बताएं ।

32. द्रव उर्वरक (Liquid fertilizer) क्या होते हैं? तथा इनको किस–किस प्रकार के होते हैं एवं फसलों में कैसे उपयोग में लेते हैं? समझाइये।

उत्तरमाला–

1.	ब	2.	स	3.	द
4.	द	5.	ब	6.	अ
7.	स	8.	ब	9.	अ
10.	अ	11.	द		

अध्याय 5
सिंचाई एवं जल निकास
(Irrigation & Drainage)

सिंचाई का महत्व एवं स्रोत

कहा गया है– "जल ही जीवन हैं।" "जल बिन सब सून।" पेड़–पौधों में लगभग 84 से 99 प्रतिशत जल पाया जाता हैं। जल पौधों के लिए एक प्रमुख तत्व हैं, जिसके बिना पौधे की कोई भी शरीर क्रियात्मक क्रिया सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं हो सकती हैं। पौधे अपना भोजन घोल रूप में प्राप्त करते हैं, जिसके लिए मृदा में जल का होना अतिआवश्यक हैं। पौधों को जल कृत्रिम व प्राकृतिक साधनों से प्राप्त होता हैं। वर्षा के अभाव में कृत्रिम रूप से दिया जाने वाला जल सिंचाई कहलाता हैं।

सिंचाई की आवश्यकता हम सरल भाषा में समझ सकते हैं कि जीव–जन्तु को जब प्यास लगती हैं, तब वह जल–स्रोत के पास पहुँचकर, अपनी प्यास बुझा लेता हैं, परन्तु जब पेड़–पौधों को प्यास लगती है, तब वह स्वयं स्रोत के पास चलकर नहीं जा सकता। चूँकि उसकी जड़ें बेड़ी रूपी मिट्टी से जकड़ी होती हैं। अतः पौधा अपने आसपास न होकर के जल को ग्रहण कर लेता हैं, परन्तु जब आसपास, उसकी क्षमता से दूर जल होता है या वर्षा नहीं होती हैं, तब जल के अभाव में खड़ा–खड़ा प्राण त्याग देता हैं, अर्थात् सूख जाता हैं। ऐसी परिस्थिति में सिंचाई आवश्यक हो जाती हैं।

परिभाषा –

फसलों को उगाने के लिए कृत्रिम रूप से दिया गया जल, सिंचन कहलाता हैं।

अथवा

वर्षा के अभाव में भूमि को कृत्रिम तरीकों से जल पिलाने की क्रिया को सिंचाई करना कहा जाता हैं।

अथवा

फसलों की उचित वृद्धि के लिए मृदा के अन्दर उचित मात्रा में नमी बनाये रखने के लिए कृत्रिम जल देने की क्रिया को सिंचाई कहते हैं।

सिंचाई का महत्व (Importance of irrigation)

फसलों की वृद्धि एवं विकास हेतु सिंचाई का निम्नलिखित महत्व है –

1. पौधों का सम्पूर्ण विकास जल पर निर्भर करता है।
2. जल, जीवद्रव्य का एक मुख्य अवयव हैं, अतः कोशिका विभाजन के लिए जल की आवश्यकता होती है।
3. पौधों के प्रत्येक भाग में स्फीति (Turgidity) बनाये रखने के लिए जल एक अहम भूमिका निभाता हैं और यह कोशिकाओं को स्फीति प्रदान करता है, जिससे गुहिकाएँ फूल जाती हैं। कोशिकाओं के तापमान पर नियन्त्रण रहता हैं, जिससे फसलें लू व पाले से बच जाती हैं।
4. जल, पौधों का अभिन्न अंग हैं। प्रकाश–संश्लेषण की महत्वपूर्ण क्रिया में जल, कार्बन–डाइ–ऑक्साइड के संयोग से प्रकाश की उपस्थिति में, पर्णहरित के माध्यम से शर्करा (कार्बोहाइड्रेट्स) का निर्माण करता हैं, जो कि पौधे के विभिन्न भागों में वितरित हो जाता है।
5. कर्षण क्रियाओं में सिंचाई जल सहायक होता हैं और इसके कारण फसलों की समय पर बुआई की जा सकती हैं।
6. जल लाभदायक जीवाणुओं की क्रियाशीलता को बढ़ाता हैं। हानिकारक कीट जैसे– दीमक आदि सिंचाई के जल के प्रभाव से अपना असर कम दिखाते हैं।
7. जल की पूर्ति बढ़ाकर फसलों के परिपक्वता काल को कुछ लम्बी अवधि तक बढ़ाया जा सकता हैं, जिससे कि फसलों की गुणवत्ता पूर्ण अधिक उपज प्राप्त कर एवं बाजार की माँग के अनुसार काटकर बाजार में बेचा जा सकता है।
8. खेत के सिंचित होने पर मृदा में नमी रहेगी, जो बीजों के अंकुरण व पौधों की वृद्धिके लिए अत्यन्त आवश्यक है।
9. पेड़–पौधे अपने पोषक तत्वों को मृदा से घोल के रूप में लेते हैं, जिसके लिए सिंचाई करना आवश्यक हैं।
10. सिंचाई द्वारा वर्षा की अनिश्चितता से सुरक्षा की जा सकती हैं। जब वर्षा न हो अथवा असमय से हो तो फसलों को सिंचाई करके पानी दिया जाता है।
11. वाष्पोत्सर्जन पौधों के लिए एक आवश्यक एवं अनिवार्य प्रक्रिया हैं। पौधों की पत्तियों के द्वारा पर्ण रन्ध्रों के माध्यम से पानी उत्सर्जित किया जाता है। पानी की अनुपस्थिति में यह क्रिया पूर्णतया असम्भव ही है और वाष्पोत्सर्जन के अभाव में पौधो की जल एवं पोषक तत्व अवशोषण क्रियाएँ प्रभावित होती हैं।

12. मरूस्थल के प्रसार को रोकने में मदद मिलती है क्योंकि सिंचित क्षेत्र में वानस्पतिक आच्छादन हो जाता है जिससे मृदा क्षरण कम होता है।

13. खाद एवं उर्वरकों को ठोस से द्रव रूप में बदलने के लिए जल की आवश्यकता होती है।

14. मृदा में अपक्षालन द्वारा लवणीय प्रभाव को सिंचाई से कम किया जाता है।

सिंचाई के स्रोत (Source of irrigation)

सर्वप्रथम यह बताना जरूरी है कि सिंचाई के स्रोत व साधनों में अन्तर क्या हैं ? सिंचाई के स्रोत वे स्थान हैं, जहाँ पर जल एकत्रित रहता हैं, जिन्हें जल भण्डार भी कहते है। जैसे – कुआँ, नहरे, तालाब, बावड़ी, झील, झरने, सीवर, नदियाँ आदि। सिंचाई के साधन वे यंत्र हैं, जिनकी सहायता से सिंचाई के लिए जल–भण्डारों से जल लिया जाता है। जैसे – रहट, ढेकली, चरस, बेडी, पवनचक्की, पम्पसैट, बरमा आदि।

सिंचाई के मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं –

(1) **नहरें** (Canals) – नदियों पर बांध बनाकर नहरें निकाली जाती हैं, फिर इनके जल का सिंचाई हेतु उपयोग किया जाता हैं। बाँध तथा नहरों के निर्माण में काफी पूंजी तथा समय की आवश्यकता होती हैं।

नहरों के प्रकार –

(i) अनित्यवाही नहरें (Seasonal canals) – इन्हें बरसाती नहरें भी कहते हैं। नदियों के जल की बाढ़ को कम करने के लिए अथवा रोकने के लिए, ये नहरें बनाई जाती हैं। जिनका पानी सिंचाई के काम आता हैं। नदियों में जलस्तर एक निश्चित ऊँचाई से ऊपर जाने लगता हैं, तो पानी को इन नहरों में छोड़ दिया जाता हैं। इन नहरों के मुख्य रूप से दो दोष हैं। प्रथम जब नदी में पानी नीचे रह जाता हैं तो नहर में पानी नहीं जाता है और नहरें सूख जाती हैं। दूसरा इन नहरों से पूरे वर्ष सिंचाई नहीं होती है। अतः इन नहरों का बनवाना अधिक लाभदायक नहीं रहता है। इसलिए अब इस प्रकार की नहरें कम बनवायी जाती हैं। इस प्रकार की नहरों का उदाहरण भारत में कृष्णा, कावेरी, डेल्टा क्षेत्रों में है।

(ii) नित्यवाही नहरें – इन्हें बारहमासी नहरें भी कहते हैं क्योंकि इनमें पूरे वर्ष पानी बहता रहता हैं और ये पूरे वर्ष सिंचाई के काम आती हैं। ये नहरें हमेशा बहने वाली नदियों से निकाली जाती हैं अथवा नदियों पर बाँध बनाकर निकाली जाती हैं। उदाहरण – इन्दिरा गांधी नहर । राजस्थान में गंगानगर, हनुमानगढ़, बीकानेर, जैसलमेर, कोटा, बूंदी आदि जिलों में नहर सिचांई का मुख्य स्रोत हैं। बीकानेर के महाराजा गंगासिंह द्वारा बनवाई गई गंगनहर राजस्थान ही नहीं देश की भी प्राचीनतम नहर प्रणालियों में से एक हैं जिससे वर्तमान में भी सिंचाई की जा रही है।

(2) **तालाब** (Tanks)– तालाब किसी का व्यक्तिगत नहीं होता है। प्रायः एक गांव का एक तालाब होता हैं जो गांव के निचले भाग में स्वतः बन जाता हैं। इसमें पूरे गांव एवं आसपास से वर्षा का पानी आकर एकत्रित होता हैं।जहाँ धरातल कुएँ खोदने के लायक नहीं हैं। इस कारण तालाबों की आवश्यकता होती हैं। राजस्थान में भीलवाड़ा, टोंक आदि क्षेत्रों में तालाब सिंचाई के अच्छे स्रोत हैं।

(3) **कुएँ** (Wells)– कुओं के माध्यम से सिंचाई परम्परागत रूप से की जाती रही है। कुओं द्वारा सिंचाई में अधिक व्यय एवं परिश्रम की आवश्यकता होती हैं। राजस्थान में सिंचाई का सबसे प्रमुख स्रोत कुएँ हैं।

कुओं के प्रकार –

1. अस्थाई कुआँ – जिन क्षेत्रों में भूमि का जल स्तर ऊँचा होता है तथा किसान निर्धन होता है। उन क्षेत्रों में अस्थाई कुआँ बनाया जाता है। इसकी गहराई 15 से 20 फीट तक होती है और यह एक या दो वर्ष ही काम आते हैं।

2. स्थाई कुआँ – ये दो प्रकार के होते हैं –

(i) कच्चा कुआँ – जिन क्षेत्रों में मिट्टी कठोर होती हैं अथवा चट्टानें होती हैं, उन क्षेत्रों में इस प्रकार का कुआँ बनाया जाता है।

(ii) पक्का कुआँ – इस प्रकार के कुए की खुदाई भी वैसे ही की जाती है, जिस प्रकार से कच्चे कुएँ की होती है लेकिन अन्तर यह होता है कि यह कुआ अन्दर से पक्का होता हैं अर्थात यह ईंट या पत्थर से बना होता है। गहराई 25 फीट से अधिक होती है।

3. पाताल तोड़ कुआँ (Artisan wells)– ये अधिकतर उत्तरांचल राज्य के तराई क्षेत्रों में मिलते हैं। पाताल तोड़ कुओं में भूमिगत जल स्वतः अपने ही दबाव से धरातल पर बाहर निकलता है। इन कुओं के लिए विशेष भूगर्भिक सरंचना की आवश्यकता होती है।

4. नलकूप (Tubewell) – भूमि की अधिक गहराई से पानी प्राप्त करने के लिए मशीनों की सहायता से अधिक गहराई (120 मीटर से 150 मीटर तक या इससे अधिक) तक लोहे के मजबूत पाइप डालकर पानी प्राप्त किया जाता है। ट्यूबवैल से पानी सब मर्सिबलपम्प द्वारा निकाला जाता है।

5. झीलें – पृथ्वी तल पर कहीं–कहीं प्राकृतिक कारणों से निचले क्षेत्र में जल एकत्रित हो जाता है। उस स्थान विशेष को झील कहते हैं।

झील दो प्रकार की होती हैं – 1. मीठे पानी की 2. खारे पानी की

6. झरने (Cascade) – वर्षा के दिनों में पहाडों पर पानी एकत्रित हो जाता हैं। यह पानी धीरे–धीरे पहाड़ों की दरारों एवं कन्दराओं में रिसता रहता है यह पानी झरनों का रूप ले लेता है।

कुछ झरने बारहमासी होते हैं जबकि कुछ झरनें गर्मी के मौसम में सूख जाते हैं।

7. बावड़ी – ये छोटे जलाशय होते है जिन्हें बदियां भी कहते है। जिस प्रकार से कुएँ होते हैं, उसी प्रकार ये बावड़ी भी होती हैं। ये चौकोर आकार की अन्दर से पक्की होती हैं। जिनमें अन्दर से पानी आने के स्रोत होते हैं। ये कुएँ की भांति गोल न होकर चौकोर होती हैं और आकार में बड़ी होती हैं जिनमें काफी गहराई तक सीढ़िया बनी होती हैं जिनकी सहायता से ऊपर–नीचे आया–जाया जा सकता हैं।

बावड़ी उन स्थानों में अधिक बनाई जाती हैं जहाँ 20 इंच से कम वार्षिक वर्षा होती हैं। राजस्थान, शेखावटी क्षेत्र में बावड़ी का अधिक चलन रहा हैं। यह वर्षा के पानी को भी संग्रहित करने की परम्परागत विधि है।

सिंचाई के साधन (Means of irrigation) –

सिंचाई के साधन वे यन्त्र हैं जिनकी सहायता से सिंचाई के लिए जल–भण्डारों से लिया जाता हैं। भूमि के अन्दर एवं सतह पर उपलब्ध जल को सिंचाई के लिए खेत में उपयोग करने के लिए विभिन्न प्रकार के साधन अपनाये जाते हैं, जैसे– रहट, चरस, ढेकली, बेड़ी, पवनचक्की, पम्प सैट, बरमा आदि। इन्हें संचालित करने के लिए पशु–शक्ति, मानव–शक्ति, वायु–शक्ति एवं यांत्रिक शक्ति काम में लेते हैं।

अतः सिंचाई के पानी को जल स्रोतों से उठाने और उसे नियन्त्रित करने के लिए जल निकालने के उन्नत साधनों की आवश्यकता होती हैं। इस प्रकार की सिंचाई को जलोत्थान सिंचाई Lift irrigation कहते हैं।

सिंचाई के साधन निम्नलिखित हैं –

1. **चरस –** इसे क्षेत्रीय भाषा में मोट या पूर के नाम से भी जानते हैं। यह सिंचाई का प्राचीन साधन है। इस साधन से लगभग 30 फीट तक गहरे कुओं से आसानी से पानी निकाला जा सकता है। इससे 10 घण्टे में लगभग 60,000 लीटर पानी उठाया जा सकता है। यदि दो जोड़ी बैल काम में लेवे तो यह मात्रा बढ़ाई जा सकती है।

चित्र–5.1 चरस

2. **रहट (Persian Wheal)** – सिंचाई का यह साधन भी पुराना हैं। रहट द्वारा 10 से 12 मीटर की गहराई तक का पानी उठाया जाता है। इसमें लोहे के बड़े पहिये पर छोटी–छोटी बाल्टियों की माला होती हैं। इसकी कुछ बाल्टियाँ पानी में डूबी रहती हैं। पहिये को एक धुरी द्वारा घुमाया जाता हैं।

चित्र–5.2 रहट

इसे चलने के लिए एक आदमी तथा एक जोड़ी बैल या ऊँट काम में लेते हैं। इससे प्रति घण्टा लगभग 10000 लीटर पानी उठाया जा सकता हैं।

3. **बेड़ी (दोलन टोकरी)** – यह भी सिंचाई का पुराना साधन है। इससे लगभग 1 मीटर ऊँचाई तक पानी उठाया जा सकता है। तालाब, नदी, झील, नहर आदि से पानी इसके द्वारा उठाते हैं। इसमें दो आदमियों की आवश्यकता पडती है। चमड़े की बनी टोकरी को दोनों ओर दो रस्सियों से बांध कर दो आदमी पानी उठाते हैं। इससे कम क्षेत्र की सिंचाई होती हैं। इससे प्रतिघण्टा 3600 से 5000 लीटर पानी निकाला जा सकता हैं।

चित्र–5.3 बेड़ी (दोलन टोकरी)

4. **ढेकली** – सिंचाई का यह साधन भी पुराना हैं। इससे कम गहरे कुओं व तालाबों का पानी उठाया जा सकता है। इसमें लकड़ी की बल्ली या लम्बा खम्भा जल स्रोत के पास भूमि सतह पर पर लगा होता है। इसके ऊपर लकड़ी की बल्ली काम में लेते हैं जिसके एक सिरे पर पत्थर बांधा जाता है तथा दूसरे सिरे पर रस्सी के द्वारा बाल्टी बंधी रहती है। जब पत्थर ऊपर उठता है। तब बाल्टी में पानी भर जाता है। इससे कम क्षेत्र की सिंचाई होती है। इससे 1 से 3 मीटर गहराई से पानी उठाया जा सकता है तथा एक घण्टे में 2000 से 2300 लीटर पानी निकाला जा सकता है।

5. **पवन चक्की** (Wind mill) – पवन चक्की में लोहे के बड़े पहिये पर चारों ओर ब्लेड लगे होते हैं। इस पहिये को काफी ऊँचे लोहे के टावर पर लगाया जाता हैं जो कि वायु की शक्ति से घूमता रहता है। लोहे की छड़ द्वारा घूमते पहिये की शक्ति को भूमि पर रखे प्लंजर पम्प तक पहुँचाया जाता हैं। पम्प का पानी उठाने वाला पाइप कुएँ के पानी में डूबा रहता हैं। पवन की गति से घूमते हुए इस पहिये की शक्ति द्वारा पम्प चलता रहता हैं। पम्प

चित्र–5.4 पवन चक्की

से पाइप द्वारा पानी बाहर निकलता है। पानी की मात्रा हवा की गति पर निर्भर रहती है। पवन चक्की को चलाने के लिये कम से कम 16 मील प्रति घण्टा वेग से पवन चलनी चाहिए। पवन चक्की ऐसे स्थान पर लगाई जानी चाहिए, जहाँ हवा में रूकावट न हो। इसे चलाने के लिये आदमी या बैलों की आवश्यकता नहीं पड़ती। वायु का चलना अति आवश्यक है।

6. **पम्प सैट** – आजकल कुंओं व नलकूपों से पानी निकालने के लिए डीजल इंजन पम्प, विद्युत मोटर पम्प व ट्रैक्टर काम में लिए जाते हैं। इनकी क्षमता अन्य साधनों से अधिक होती है। सबसे अधिक प्रचलन विकेन्द्रीय पम्प (Centrifugal Pump) का है। यह पम्प विकेन्द्रीय बल (Centrifugal Force) के सिद्धांत पर कार्य करता है। पम्प के बॉडी को केसिंग कहते हैं। इसके अन्दर पंखा होता है, जो कि साफ्ट्स के द्वारा तीव्र गति से इंजन या मोटर की शक्ति द्वारा चलता है। पम्प का पानी उठाने वाला चूषक नल (Suction pipe) पानी में डूबा रहता है। चूषक नल में नीचे की तरफ फुट वॉल्व लगा होता है, जो कि पानी को कुएँ में वापस बोरिंग पाइप के अन्दर जाने से रोकता है। इसके द्वारा पानी वापस कुएँ में नहीं जा सकता है। इस पाइप का पानी पंखे की सहायता से खींचा जाता है। बाद में यह प्रसार नल (Delivery pipe) से बाहर निकल जाता है। बनावट के आधार पर पम्प के प्रकार –

(1) मोनो ब्लॉक पम्प–इसमें पंखा व मोटर एक ही ब्लॉक में स्थित होते हैं।

(2) डबल ब्लॉक पम्प – इसमें चालक शक्ति का भाग अलग होता है तथा पंखे वाला भाग अलग होता है। इंजन पम्प प्रायः इसी प्रकार के होते हैं।

(3) सबमर्सिबल पम्प – यह पम्प पानी के अन्दर रहकर कार्य करता है।

इसलिये यह पम्प अधिक गहराई की जलस्तर वाली भूमि में प्रयोग में लाया जाता है। नलकूप में अधिकांश यही पम्प उपयोग में लाये जाते हैं।

चित्र–5.5 डीजल पम्प सेट

फसलों की जल माँग (Water Requirement of Crops)

जल माँग –

फसल की जल माँग जल की वह मात्रा है जो निश्चित परिस्थिति में निश्चित अवधि तक फसल की सामान्य वृद्धि एवं उत्पादन के लिये आवश्यक है तथा जिसकी पूर्ति जल अवक्षेपण या सिंचाई या दोनों द्वारा होती है। इसमें वाष्पीकरण, वाष्पोत्सर्जन, पादप उपापचय में प्रयुक्त जल के अतिरिक्त वह जल भी सम्मिलित होता है जो भूमि की तैयारी, पौधरोपण, लवण निक्षालन तथा जल प्रयोग में होने वाली हानि जैसे रिसने, बहने आदि में प्रयुक्त होता है। पौधों की उपापचयी क्रिया (शरीर निर्माण) में कुल फसल जल माँग की 1 प्रतिशत से कम जल की मात्रा की आवश्यकता होती हैं अतः जल माँग को सूत्ररूप में निम्न प्रकार दिया जा सकता है –

जल माँग = वाष्पोत्सर्जन + वाष्पीकरण + सिंचाई में जल की हानि + विशेष प्रक्रियाओं में प्रयुक्त जल

जल माँग को इस प्रकार भी प्रदर्शित किया जा सकता हैं–

जल माँग = सिंचाई जल की आवश्यकता + प्रभावी वर्षा + मृदा में संग्रहित नमी का योगदान

सिंचाई जल की आवश्यकता = जल माँग – प्रभावी वर्षा – मृदा में संग्रहीत नमी का योगदान

जल माँग को प्रभावित करने वाले कारक

पौधों की जल माँग , भूमि की दशा, जलवायु, पौधों की प्रकृति व फसल प्रबन्धन द्वारा प्रभावित होती है। जल माँग को प्रभावित करने वाले कारक निम्नलिखित हैं –

(अ) फसल की प्रकृति – जल माँग फसल व फसल की किस्म पर निर्भर करती हैं। उदाहरण के लिए ज्वार को कम पानी की आवश्यकता होती हैं जबकि धान व गन्ना की जल माँग अधिक हैं। एक ही फसल की विभिन्न किस्मों की जल माँग अधिक हैं। एक ही फसल की विभिन्न किस्मों की जल माँग भिन्न–भिन्न होती हैं। दीर्घ अवधि की किस्म की जल माँग मध्यम व कम अवधि की किस्म की तुलना में अधिक होती हैं। फसल के लिए उपभोग में प्रयुक्त जल की मात्रा पौधों की प्रारम्भिक अवस्था में कम, पौधों की बढ़वार के समय अधिक, फलावस्था में अधिकतम और परिपक्वता पर घटती हैं। अंकुरण के समय वाष्पीकरण से भूमि से जल का ह्रास अधिक होता है। जिन पौधों की जड़ें कम विकसित व उथली होती हैं वे कम पानी का अवशोषण कर पाती हैं। जड़ें जितनी गहराई तक जाती हैं उतने ही अधिक क्षेत्र से जल का शोषण करती हैं तथा उतने ही ज्यादा पानी की आवश्यकता होती है। सूखा सहनशील फसलों को वृद्धि एवं विकास के लिए कम जल की आवश्यकता होती है। जिन फसलों में पत्तियाँ एवं शाखाएँ अधिक होती हैं, उनकी जल माँग कम पत्तियों वाली फसल की तुलना में अधिक होती है।

(ब) मृदा – मृदा की जल संग्रहित करने की क्षमता व पानी की उपलब्धता उसके भौतिक गुणों पर निर्भर करती है जैसे मृदा संरचना, मृदा रंग, मृदा ताप आदि। ये कारक किसी भी फसल की जल आवश्यकता को प्रभावित करते हैं।

1. हल्की बलुई मृदाओं की अतःस्पन्दन गति (Infiltration rate) अधिक होने के कारण भारी मटियार मृदाओं की अपेक्षा अधिक पानी की आवश्यकता होती है।
2. उथली मृदाओं को गहरी मृदाओं की तुलना में जल्दी–जल्दी लेकिन प्रति सिंचाई कम पानी की आवश्यकता होती है।
3. कार्बनिक पदार्थो की उपस्थिति से मृदा की जल अवशोषण क्षमता बढ़ जाती है तथा मृदा को कम पानी की आवश्यकता होती है।
4. मृदा उर्वरता भी पौधों द्वारा प्रयुक्त जल की मात्रा को प्रभावित करती है। कम उर्वर मृदाओं में उगाये गये पौधे या फसलें प्रति इकाई शुष्क पदार्थ उत्पन्न करने के लिए अधिक पानी वाष्पोत्सर्जित करती हैं। उर्वरक उपयोग से फसल का वाष्पोत्सर्जन अनुपात कम होता हैं तथा पानी के प्रभावी उपयोग में मदद मिलती हैं।
5. जिन भूमियों का रंग काला होता हैं वे वातावरण से अधिक ताप का अवशोषण करती हैं, जिससे भूमि से वाष्पीकरण अधिक होता हैं। जल माँग अधिक होगी।
6. जल निकास भी जल माँग को प्रभावित करता है। जलमग्न मृदाओं में वाष्पोत्सर्जन कम होने से पौधों द्वारा पानी का अवशोषण कम होता है। इसलिए दोषपूर्ण जल निकास परिस्थितियों में फसलें कम पानी लेती हैं।

(स) जलवायु – यह सर्वमान्य तथ्य हैं कि वाष्पीकरण –वाष्पोत्सर्जन सौर विकिरण, वायुमण्डल तापमान, सापेक्ष आर्द्रता तथा वायुगति से प्रभावित होता हैं। गर्मियों में बोई जाने वाली फसलों की जल माँग अधिक होती हैं क्योंकि गर्मियों में अधिक तापमान से वाष्पीकरण व वाष्पोत्सर्जन क्रियाएँ तेज हो जाती हैं। वातावरण में आर्द्रता कम होने पर वाष्पीकरण व वाष्पोत्सर्जन बढ़ जाता हैं। अतः फसल को अधिक पानी की आवश्यकता होती है। मध्यम व तेज हवाएँ चलने पर मृदा सतह से वाष्पीकरण बढ़ने के कारण मृदा में नमी कम हो जाती है तथा फसल में जल्दी ही सिंचाई करने के कारण जल माँग बढ़ जाती है। दिन के समय सूर्य जितना चमकीला होगा उतना ही वाष्पीकरण अधिक होगा। फसल के वृद्धि काल में बरसात होने पर फसल की जल माँग में कमी आती है।

(द) फसल प्रबन्धन – कर्षण क्रियाओं का फसल की जल माँग पर सीधा प्रभाव पड़ता है। अधिक जुताई करने पर मृदा संरचना में सुधार होता है। अतः जल माँग में कमी आती हैं। बीज दर बढ़ाने पर प्रति इकाई क्षेत्र में पौधों की संख्या बढ़ने से जल मांग में वृद्धि होती हैं। यदि फसल बुवाई वायु गति के विरूद्ध कतारों में करे तो वाष्पीकरण की क्रिया कम होगी व जल माँग भी कम होगी। निराई–गुड़ाई करने से खरपतवार नष्ट हो जाते हैं जिससे खरपतवारों द्वारा वाष्पोत्सर्जन में व्यर्थ जल की बचत होती है। खेत में पलवार या अवरोध परत का प्रयोग (Mulch) का प्रयोग करने से जल माँग में कमी आती है। सिंचाई प्रबन्धन भी जल माँग को प्रभावित करता हैं। सिंचाई की प्रभावित करता हैं। सिंचाई की प्रवाहित सिंचाई विधि (Flood irrigation) में नाली सिंचाई विधि (Furrow irrigation) की तुलना में अधिक पानी की आवश्यकता होती हैं। प्रवाहित विधि की तुलना में क्यारी विधि से सिंचाई करने पर जल माँग कम होती हैं। जल स्रोत से खेत तक पानी ले जाने हेतु कच्ची नाली में अन्तःस्रवण (Percolation) और अपसरण (Seepage) द्वारा जल की हानि पक्की नालियों की अपेक्षा अधिक होती है। फसलों पर विभिन्न कीटों व रोगों के प्रकोप के कारण पौधों की वृद्धि रूक जाती है जिससे जल माँग बढ़ जाती हैं।

जल निकास (Drainage)

जिस प्रकार जल के अभाव में पौधों की वृद्धि एवं विकास कम हो जाता है ठीक उसी प्रकार आवश्यकता से अधिक जल पौधों की वृद्धि पर विपरीत प्रभाव डालता हैं। मृदा में फालतू जल होने से रन्ध्रावकाशों में हवा की जगह पानी भर जाता है, जिससे हवा और जल का सन्तुलन नहीं रह पाता है। अतः खेत से अतिरिक्त पानी को बाहर निकालना अति–आवश्यक हो जाता है।

सिंचाई और जल निकास दोनों विपरीत क्रियाएँ हैं। सिंचाई से जल की आपूर्ति की जाती हैं जबकी जल–निकास से अतिरिक्त पानी बाहर निकाला जाता है।

परिभाषा – मृदा से अतिरिक्त पानी को कृत्रिम विधियों द्वारा बाहर निकालने की क्रिया को जल–निकास कहते हैं।

अथवा

मृदा की सतह अथवा अधोसतह से अनावश्यक जल को बाहर निकालना जल–निकास कहलाता है।

पौधों के जल माँग व वातन (वायु संचार) से अधिक जल की मात्रा को अतिरिक्त या अनावश्यक जल कहते है।

जल निकास की आवश्यकता क्यों ?

1. अधो–भूमि में सख्त तह का उपस्थित होना जिसके कारण पानी नीचे की सतहों में नहीं पहुँच पाता व ऊपरी सतह पर एकत्रित हो जाता है।
2. अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में जहाँ पानी की जल निकासी छोटे–छोटे नाले या नालियों द्वारा सीमित हो जाती है।
3. चिकनी भूमियों जहाँ पर भूमि के द्वारा कम मात्रा में पानी अवशोषित किया जाता है और अधिक पानी की मात्रा ऊपरी सतह पर एकत्रित हो जाती है।
4. ऐसे क्षेत्रों में जहाँ पर भूमि में जल भूमि की ऊपरी सतहों में ही पाया जाता है।
5. लवणीय भूमियों में हानिकारक लवणों को खेत में हटाने के लिये, भूमिगत जल निकासी की आवश्यकता होती है।
6. नहरी क्षेत्रों में जहाँ किनारे के खेतों में पानी निस्पन्दन द्वारा एकत्रित हो जाता है।
7. जो भूमियाँ जल–क्षरण को प्रभावित होती हैं वहाँ पर कभी–कभी जल–क्षरण को कम करने के लिये जल निकास के रास्ते तैयार किये जाते हैं।
8. समतल भूमियों में कुछ फसलें पानी में 8–10 घण्टे रहने पर प्रतिकूल रूप में प्रभावित होती हैं, अतः ऐसी अवस्था में जल निकास आवश्यक है।
9. वे भूमियाँ जिनमें फालतु जल, शीघ्र नहीं निकाला जा सकता।
10. निचली समतल भूमियाँ।
11. तराई क्षेत्र की दलदली भूमियाँ।

खेती में जल उपयोग –

क्र.स.	खेत में जल की आवक	खेत में जल की जावक
1	वर्षा से (सभी खेतों में)	1. भूमि सतह से बहकर (रन ऑफ लोसेज)
2	सिंचाई से (केवल सिंचित खेतों में)	2. फसलों द्वारा उपभोग
3	सीपेज से (नदियों/कच्ची नहरों एवं बांध के किनारे के खेतों में या निचले क्षेत्र में)	3. भूमि में नीचे जाकर नष्ट
		4. वाष्पीकरण द्वारा नष्ट
		5. खरपतवारों द्वारा नष्ट
		6. स्रोत से खेत तक ले जाने में नष्ट
		7. सिंचाई विधि में खामी के कारण नष्ट
		8. सिंचाई प्रवृत्ति में खामी के कारण

जल निकास के लाभ

1. भूमि का वायु संचार बढ़ता हैं फलस्वरूप भूमि में ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ जाती हैं जिसके कारण भूमि में बीजों के अंकुरण, जड़ों द्वारा खाद्य तत्वों के अवशोषण पौधे के जड़ व तने की वृद्धि, पौधों के रोग एवं सूखा आदि सहन करने की क्षमता में वृद्धि होती है।
2. खेतों से जल निकास होने पर, अगली फसल के लिये खेत की तैयारी व बुआई समय पर हो जाती है।
3. हानिकारक लवण भूमि की ऊपरी सतह पर एकत्रित नहीं हो पाते हैं, अतः भूमि ऊसर नहीं हो पाती हैं।
4. जल–निकास का उचित प्रबन्ध होने से जल द्वारा मृदा कटाव में रूकावट पड़ जाती है।
5. जलमग्न भूमियों में अगर जल–निकास का उचित प्रबन्ध न हो तो कार्बन–डाइ–ऑक्साइड की मात्रा बढ़ जाती हैं और यह कार्बन–डाइ–ऑक्साइड पानी के साथ मिलकर कार्बनिक अम्ल बनाती रहती हैं। फलस्वरूप मृदा अम्लीय हो सकती हैं। अम्लीय भूमियों में एल्यूमिनियम व लोहे के लवणों की मात्रा आ जाती हैं जो फसल की बढ़वार के लिये हानिकारक होते हैं।
6. उचित जल–निकास होने पर भूमियों में अणुजीवियों की क्रियाशीलता बढ़ती है जो कि फसल वृद्धि के लिये अपरोक्ष रूप में लाभदायक होती है।
7. जल–निकास की सुविधा होने पर पौधों के खाद्य तत्त्वों का भूमि में निक्षालन की क्रिया द्वारा बहुत कम ह्रास होता है।
8. जल–निकास होने पर भूमि का तापक्रम भी अधिक नहीं गिर पाता जो फसलों की वृद्धि में सहायक होता है।
9. भूमि दलदली होने से बच जाती है।

भूमि में अतिरिक्त जल की हानियाँ –

1. मृदा से वायु संचार में बाधा आना।
2. हानिकारक लवणों का इकठ्ठा होना।
3. मृदा के ताप का कम होना।
4. लाभदायक जीवाणुओं की क्रियाशीलता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।
5. जड़ों का पूर्ण विकास न होना अर्थात् जड़ें कम गहराई तक जाती हैं।
6. भूमि का दलदल होना।
7. मृदा अपरदन होना।
8. भूपरिष्करण क्रियाओं में बाधा।
9. बीमारियों व हानिकारक कीटों का प्रकोप।

जल संरक्षण की आवश्यकता

जल समेट प्रबन्ध एक बहुआयामी कार्यक्रम हैं जिसके अन्तर्गत मृदा, जल, वनस्पति, मनुष्य व जानवरों का संर्वधन व विकास, मृदा अपरदन व गाद की रोकथाम, बाढ़ व सूखा नियन्त्रण,भूमि व भूमिगत जल में सुधार, घास चारा, ईंधन व फसलों की पैदावार में अनियमित आधार पर वृद्धि, पर्यावरण व पारिस्थितिकीय सुधार आदि कार्य आते हैं। साथ ही प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग पर आधारित कुटीर उद्योगों और धन्धों का विकास का स्थानीय जनता की आर्थिक दशा में सुधार करना भी इसका उद्देश्य है। इन सभी कार्यों में स्थानीय निवासियों का सक्रिय सहयोग वांछनीय है।

जल समेट प्रबन्ध कार्यक्रम के निम्नलिखित एक या अधिक उद्देश्य हो सकते हैं, जैसे –

– जलागम में त्वरित/अत्यधिक भू–क्षरण से रोकथाम,
– विश्वसनीय एवं स्वच्छ जल की आपूर्ति,
– बाढ. एवं सूखे का नियन्त्रण,
– फसल, चारा, ईंधन, फल आदि की लगातार आपूर्ति,
– विशेष समस्याओं , जैसे– भूस्खलन, खनिज क्षेत्र, नदी, नाला, कटाव आदि का नियन्त्रण।

जल संरक्षण

जल संरक्षण चाहे मृदा में हो या मृदा की सतह पर हो। आज के बदलते परिवेश में जल का संरक्षण करना अति आवश्यक हो जाता हैं।

जल का अभाव कई कारणों से होता हैं। जैसे – पौधों द्वारा वाष्पोत्सर्जन, वाष्पीकरण द्वारा, पानी का अपवाह, वर्षा का अभाव, भूमि की जल सोखने एवं जल धारण क्षमता, वर्षा का वितरण, शैल की संरचना, तीव्र दोहन, जल–स्रोतों का अनुपयुक्त रख–रखाव आदि।

जल–संरक्षण की परिभाषाएँ –

भूमिगत अथवा भूमि की सतह पर जल–भण्डारों में जल की सुरक्षा करना ही जल संरक्षण कहलाता है।

अथवा

जल का सदुपयोग करना ही, जल संरक्षण कहलाता है।

अथवा

जल नष्ट होने से बचाना एवं आवश्यकता के समय फसलों को उपलब्ध करना ही, जल संरक्षण कहलाता है।

जल संग्रह (Water harvesting) –

परिभाषाएँ – "जल संग्रह की वह तकनीक है, जिसमें बहते हुए वर्षा जल को भूमि में या खेत के पोखर में खेती के उपयोग के लिए इकठ्ठा किया जाता है, वॉटर–हार्वेस्टिंग कहलाता है।"

अथवा

"महावट अथवा खरीफ ऋतु में प्राप्त वर्षा जल को बाह क्षेत्र से जल अपवाह में वृद्धि करके निचले स्थान पर निर्मित जलप्रद गड्ढे में एकत्रित कर लेना, जल–संग्रह कहलाता हैं।"

अथवा

"ढलान वाले क्षेत्र बनाकर और ढलान से होने वाले अपवाह पानी को इकठ्ठा करके एवं संरक्षण करके जरूरत के समय, इसका उपयोग करना ही वाटर–हार्वेस्टिंग कहलाता है।" वाटर–हार्वेस्टिंग की दो विधियों का वर्णन किया जा रहा है –

(1) लघु जल–संग्रह विधि – इस विधि में जल को भूमि में संग्रह किया जाता है। इसके भी दो तरीके हैं –

(अ) दो कतारो के बीच – इसमें खेत में डोलियाँ एवं नालियाँ बनाकर डोलियों पर फसलें उगाई जाती हैं और नालियों में जल संग्रह किया जाता है। यह तरीका उन क्षेत्रों में अपनाया जाता है, जहाँ वर्षा लगभग फसल के पानी की जरूरत के बराबर होती है। डोलियाँ एवं नालियाँ बनाने के लिए रीजर–सीडर यन्त्र का प्रयोग करना अच्छा रहता है।

इस विधि से बाजरा बाजरा, ग्वार, मूंग एवं लोबिया आदि फसलें ली जा सकती हैं।

(ब) दो प्लॉटों के बीच – इस तरीके में पूरे खेत में फसल न उगाकर खेत के कुछ भाग में ही फसल उगायी जाती है और शेष खेत में इस प्रकार ढलान दी जाती है कि वर्षा का पानी उस भाग से बहकर फसल वाले भाग में इकठ्ठा हो जावे। यह विधि फसलों के पानी की जरूरत से कम वर्षा वाले क्षेत्रों में अपनायी जाती है। इस विधि द्वारा अनाज एवं दालवाली फसलों के अलावा बेलवाली सब्जियों एवं बारानी फलों की खेती की जा सकती है।

(2) वृहद जल संग्रह – इस विधि में जल को पोखर में एकत्र किया जाता हैं और उसे फसलों को सूखने से बचाने के लिए एवं पलेवा देने में उपयोग किया जाता है। शुष्क क्षेत्रों के लिए 10 x 10 x 2 मीटर के पोखर बनाये जाते हैं। ऐसे पानी से भरे पोखर से एक एकड़ भूमि में 5 सेमी. की एक सिंचाई की जा सकती है। इस प्रकार सिंचित फसलें असिंचित फसलों से 2–3 गुना अधिक पैदावार देती हैं।

स्थल पर मीठे जल के दो मुख्य प्राप्ति क्षेत्र हैं –

1. **भूमिगत** (Under Ground)
2. **धरातलीय** (surface)

धरातल के नीचे गहराई पर चट्टानों के कणों के मध्य रिक्त स्थान तथा दरारों में उपलब्ध जल के भूमिगत जल कहते हैं। धरातल पर उपलब्ध कुल जल का केवल 0.6 प्रतिशत भाग ही भूमिगत जल के रूप में संग्रहित है। वर्षा, नदियों, दलदलों, तालाबों, झीलों आदि के जल के रिसाव से भूमिगत जल–भण्डार (Aquifer) बनता हैं। रिसाव की मात्रा धरातल के ढाल तथा चट्टानों की संरचना पर निर्भर करती है। समतल भूमि या धीमे ढाल तथा रन्ध्रयुक्त शैलों में जल रिसाव अधिक होता है। इसके विपरीत तीव्र ढाल तथा अरन्ध्रयुक्त शैलों में बहाव अधिक होने से रिसाव कम होता है।

प्राचीनकाल से ही मानव भूमिगत जल की प्राप्ति कुओं के माध्यम से करता आ रहा हैं। आज भी हाथ से खोदे हुए कम गहरे कुओं से करोड़ों लोग पीने तथा अन्य उपयोगों के लिए पानी प्राप्त करते हैं।

"भूमिगत जल के ऊपरी तल को भूमिगत जल–स्तर कहते है।

भूमिगत जल तल से अधिक गहरा कुआँ खोदने पर उसमें भूमिगत जल–स्तर के स्तर तक पानी प्रकट हो जाता है। इन कम गहरे व हाथ से खोदे हुए साधारण कुओं द्वारा भूमिगत जल के ऊपरी भाग का ही दोहन हो पाता है। शुष्क मौसम में भूमिगत जल–स्तर नीचे गिर जाने पर कई छिछले कुएँ सूख जाते हैं। कुओं से जल अधिक मात्रा में खींचने पर भूमिगत जल तल उल्टे शंकु की भांति नीचे बैठ जाता है। इसे गर्तशंकु कहते (Cone of Depression) हैं।

शंकु उत्पन्न करने वाला मुख्य कुआँ ही नहीं बल्कि ऐसे शंकु की परिधि में आने वाले छिछले कुएँ भी सूख जाते हैं। आजकल तीव्र दर से बढ़ती जनसंख्या के लिए प्रत्यक्ष रूप से तो पानी की खपत बढ़ ही रही हैं, साथ ही अधिक कृषि उपजों की आवश्यकता के कारण तथा बढ़ती हुई औद्योगिक माँग के कारण भी जल की आवश्यकताएँ काफी बढ़ गई हैं। अतः विश्व के अनेक क्षेत्रों व देशों में कुओं को मशीनों की सहायता से गहरा खोदकर गहराई पर उपलब्ध विशाल भूमिगत जल–भण्डार का उपयोग किया जा रहा है। इन्हें नलकूप कहते हैं। इनसे न केवल विश्व की जनसंख्या के बहुत बड़ें भाग को पीने का पानी, बल्कि सिंचाई तथा औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु काफी मात्रा में जल उपलब्ध कराया जाता हैं। प्राप्त किये जाने वाले जल की मात्रा के बराबर जल का पुनर्भरण अति आवश्यक है। ऐसा न होने पर गर्तशंकु निरन्तर विशाल तथा गहरे होते जाते हैं। यह स्थिति लम्बे समय तक बनी रहने पर जल–स्तर निरन्तर गिरता जाता है।

कुओं में जल पुनर्भरण करने के उपाय –

1. जलीय प्रचुरता वाले क्षेत्रों व मौसम में जल एकत्रण की सुविधाएँ जुटाकर अतिरिक्त जल को शुष्क क्षेत्रों तथा शुष्क मौसम में उपलब्ध करना। जैसे – एनीकट तथा बाँध बनाकर। उदाहरण – अजमेर जिले के चीताखेड़ा, जलग्रहण विकास क्षेत्र में एनीकट से कुओं का जलस्तर 2 फुट से 20 फुट तक बढ़ा है।
2. पारम्परिक जल स्रोतों का उपयुक्त रख–रखाव करना।
3. कुओं व नलकूपों के मध्य उपयुक्त दूरी बनाये रखना, ताकि वे पारस्परिक शंकुगर्त में नहीं आये।

4. प्रत्येक क्षेत्र में वर्षा के जल को छोटे–छोटे तालाबों में एकत्रित करना ताकि स्थानिक रूप से भूमिगत जलस्तर में वृद्धि होते–होते व्यापक क्षेत्र में भूमिगत जल का पुनर्भरण हो सके।

5. जल स्रोतों के दोहन की मात्रा पुनर्भरण की मात्रा तक सीमित रखना।

वर्षा जल संग्रहण हेतु निम्नलिखित उपक्रम स्थापित किया जा सकता है –

वर्षा के जल को संग्रह करना व आगे भविष्य में उपयोग में लेना एक वर्षो पुरानी तकनीक है। ऊँचे–ऊँचे किलों पर व रेगिस्तानों में टांकों में इसी जल को भविष्य के लिए संग्रहित किया जाता रहा है।

वर्षा जल को भूजल में पहुँचाने की विधि बहुत ही सरल है व इस उपक्रम को आसानी से कहीं भी बनाया जा सकता है, वह भी बिना किसी तोड़ फोड़ के छत के पानी को एक ही पाइप में संग्रहित करके फिल्टर के माध्यम से घरों/छतों में स्थित टयूबवैल या टैंक में डाला जाता है, अगर छत से पानी निकालने के तीन चार निकास (नाल्दे) हैं तो उन सबकों जोड़ कर एक पाइप में संग्रहित किया जाता है, फिर उसको फिल्टर से जोड़ा जाता है और फिल्टर के आगे पाइप लगाकर उसे टयूबवैल/ हैण्डपम्प/कुओं से जोड़ा जा सकता है।

एक गणना के अनुसार यदि 1000 वर्ग फीट की छत या धरातल पर 1 से.मी. वर्षा होती हैं तो लगभग 1000 लीटर पानी एकत्रित होता है अर्थात् कही अगर 100 से.मी. अर्थात 40 इंच वर्षा होती है तो एक लाख लीटर शुद्ध जल भूजल में जायेगा।

इसमें होने वाले लाभ :–

- भू–जल में शुद्ध जल जायेगा।
- भू–जल की मात्रा निश्चित बढ़ेगी।
- भू–जल की गुणवत्ता बढ़ेगी।
- गली मोहल्ले के नाले वर्षा में बंद नहीं होंगे व घरो में पानी भरने जैसी स्थिति नहीं होगी।
- भू–जल स्तर बना रहने से टयूबवैलों/हैण्डपम्प में बराबर शुद्ध जल आता रहेगा।

जल संरक्षण की विभिन्न विधियाँ (Methods of water conservation)

समतलीकरण एवं मेड़बन्दी : उबड़–खाबड़ जमीन पर वर्षा जल का वितरण कहीं आवश्यकता से अधिक तो कहीं पर आवश्यकता से बहुत कम हो जाता है। खेत के समतलीकरण द्वारा वर्षाजल वितरण की इस असमानता को दूर किया जा सकता है। समतल सतह से जल का बहाव कम होने के कारण वर्षाजल भूमि में अधिक मात्रा में रिसता है व नमी गहराई तक बनी रहती है। खेत के चारों ओर मेड़ न होने से वर्षा जल अनियन्त्रित रूप से बहकर मृदा का अपरदन कर खेत में अवलानिकायें विकसित कर भूमि को खराब कर सकता है। अतः खेत को समतल कर चारों ओर न्यूनतम 50 सेमी से 60 सेमी ऊंची मेड़ बनाकर वर्षाजल, पोषक तत्व, खाद व बीज को बाहर जाने से रोका जा सकता है।

समोच्च बांध व वानस्पतिक अवरोध : अधिक ढलान के खेतों में समतलीकरण संभव नहीं होता है वहाँ ढलान के अभिलम्ब दिशा में मिट्टी के समोच्च अवरोध बनाकर वर्षा जल के बहाव व मृदा क्षरण को रोका जा सकता है। सामान्यतः दो समोच्च अवरोधों के मध्य 60–70 मीटर की दूरी रखी जाती है जो स्थानीय औसत वर्षा व ढलान पर निर्भर करती है। समोच्च अवरोध 0.75 से 1 मीटर ऊँचे व 1 से 1.5 मीटर चौड़े आधार के बनाये जा सकते हैं। इन अवरोधों को अधिक मजबूती प्रदान करने के लिये इन पर स्थानीय वनस्पति जैसे मूंजा, सेवन आदि लगाया जा सकता है।

समोच्च नाली : इस तकनीक के तहत अधिक ढलान वाले खेत या चारागाह में ढलान के अभिलम्ब दिशा में समोच्च नाली बनायी जाती हैं। नाली से निकाली गई मिट्टी ढलान की तरफ मेड़ के रूप में डाल दी जाती है। वर्षा होने पर सतही बहाव इस नाली में एकत्र हो जाता है जो पौधों को लगाने के लिये प्रारम्भिक अवस्था में बहुत लाभदायक सिद्ध होता है। ढलान की तरफ बनाई गई मेड़ बहते पानी के मार्ग में अवरोध का कार्य करती है। सामान्यतः नाली 0.75 से 1 मीटर व 0.60 से 0.75 मीटर चौड़ी बनाई जा सकती है। दो नालियों के मध्य 60 से 90 मीटर का अन्तराल पर्याप्त होता है। समोच्च नाली तकनीक विशेषतः ढलान वाले चरागाहों में वृक्ष व घास स्थापित करने में काफी सहायक होती है।

खेत में जल धारण क्षमता बढ़ाना : वर्षाकाल के दौरान बहाव के साथ तालाबों में चिकनी काली मिट्टी जमा हो जाती है। इस मिट्टी की जलधारण क्षमता बलुई मिट्टी की अपेक्षा ज्यादा होती है। गर्मियों में तालाबों के खाली होने के बाद इनकी काली मिट्टी को खेतों में बिछा देने से खेतों की बलुई मिट्टी की जलधारण क्षमता बढ़ाई जा सकती है व पानी अधिक समय तक फसलों के उपयोग के लिये भूमि में उपलब्ध रहेगा।

खेत की जुताई : अच्छे जमाव, पौधों की बढ़वार तथा अधिकतम उपज के लिये खेत की जुताई एक आवश्यक कृषि कार्य है। खरीफ में आवश्यक से अधिक जुताई करने पर तेज हवाओं द्वारा मिट्टी एवं नमी ह्रास होता है अतः जुताई करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि तैयारी एवं बुआई के बीच कम समय अन्तराल हो। बुआई के लिये अच्छी तरह खेत तैयार करने के लिये स्वीप कल्टीवेटर द्वारा एक जुताई बरसात के समय तथा एक जुताई बुआई से पहले पर्याप्त होती है। जुताई हमेशा खेत के ढाल

के अभिलम्ब दिशा में करनी चाहिये। इससे मृदा क्षरण व जल के बहाव में कमी आती है।

पंक्तिदार बुआई : पंक्तिदार बुआई भूमि एवं जल संरक्षण के दृष्टिकोण से मरूक्षेत्र में बहुत ही उपयोगी है। अनुसंधान के आधार पर यह ज्ञात हुआ है कि यदि तिल की चार कतारों के साथ मोंठ की 6 कतारों को एकांतर क्रम में बोई जायें तो अधिकतम लाभ मिल सकता है। सेवण घास के साथ खरीफ में दलहनी फसलों (मूंग, मोठ, ग्वार) के पट्टीदार सस्यन से वायु द्वारा मृदा क्षरण को रोकने के साथ–साथ प्रति इकाई क्षेत्र से उपज भी अधिकतम प्राप्त होती है।

सतही पलवार : शुष्क क्षेत्रों में उच्च तापमान के द्वारा तीव्र वाष्पीकरण होता है जिससे मृदा में व्याप्त नमी का तेजी से ह्रास होता है व पौधे नमी के अभाव में सूखने लगते है। अतः संचित नमी को बचाये रखने के लिये खेत से निकाले गये खरपतवार व अन्य घास–फूस से सतह पर की गई पलवार मृदा के वातीय व जलीय क्षरण तथा मृदा नमी को बचाने में काफी सहायक होती है। सतही पलवार के रूप में उपलब्धता के आधार पर फसलों के अवशिष्ट अंश, पत्तियाँ, सूखी घासें, लकड़ी का बुरादा या पॉलिथीन की चादरें काम में ली जा सकती है।

उचित फसलों का चुनाव व समय पर बुआई : मरूस्थलीय क्षेत्रों में फसलोत्पादन पूरी तरह से वर्षा पर निर्भर करता है अतः इन क्षेत्रों में फसलों का चुनाव करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि फसलें ऐसी हो जो कम पानी व कम समय में तैयार हो जाये तथा इनमें सूखा सहन करने की क्षमता हो। मरूस्थलीय स्थानों में ऊपरी सतह पर मृदा जल की कमी होने के कारण ऐसे क्षेत्रों में गहरे जड़ों वाली फसलें ज्यादा उपयुक्त रहती है। फसलों की बुआई सही समय पर करनी चाहिये। ऐसा करने से फसलों की बढ़वार के लिये अनुकूल अवधि मिल जाती है और फसल के पकने के समय सूखे का सामना नहीं करना पड़ता है। रेतीली मिट्टियों के लिये बाजरी, मूंग, मोठ, ग्वार आदि फसलें उपयुक्त रहती है। इन फसलों की किस्म विशेष का चुनाव भूमि व उपलब्ध जल आदि के आधार पर किया जा सकता है।

पौध संख्या एवं रक्षण : शुष्क क्षेत्रों में पानी की कमी के कारण पौधों की संख्या सिंचित कृषि की तुलना में 10 से 15 प्रतिशत कम रखी जाती हैं। यदि अधिक सूखे की स्थिति उत्पन्न हो रही हो तो पौधों की संख्या को ज्यादा पानी उपलब्ध रहेगा। पौध संख्या कम करने से घटी हुई पौध संख्या को ज्यादा पानी उपलब्ध रहेगा। पौध संख्या कम होने से उत्पादन में हुई कमी को कम पौधों को ज्यादा पानी उपलब्ध रहने से उत्पादन में हुई वृद्धि द्वारा पूरा किया जा सकता हैं। बुआई से पूर्व बीजोपचार किया जाना आवश्यक है। 2–3 वर्ष के अन्तराल पर जैविक खाद का प्रयोग भी फसल उत्पादन में काफी सहायक होता है।

खरपतवार निकालना : खरपतवार खेत में उपलब्ध जल व पोषक तत्वों को शीघ्रता से ग्रहण करते हैं, फलस्वरूप फसलों को आवश्यक पोषक तत्व व पानी पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल पाते हैं। अतः फसलों को पर्याप्त नमी व पोषक तत्व उपलब्ध कराने हेतु समय पर खेत को खरपतवारों से मुक्त कर देना चाहिए। खरपतवार को उपयुक्त फसल चक्र अपनाते हुए खुरपी, कल्टीवेटर या खरपतवार नाशक दवाईयों का प्रयोग करके नियंत्रित किया जा सकता हैं। इस प्रकार मरू क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के सस्यन से अधिकतम उपज एवं लाभ प्राप्त किया जा सकता है। जल संरक्षण की ऊपर दी गई विधियों के सफल प्रयोग से खरीफ की फसलों की अच्छी उपज के साथ–साथ रबी की फसलों की बुआई के लिए भी नमी मृदा में संरक्षित रहती है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. पेड़–पौधों में औसत जल कितना पाया जाता है?

   (अ) 40 प्रतिशत (ब) 90 प्रतिशत
   (स) 60 प्रतिशत (द) 30 प्रतिशत

2. पौधो–में स्फीति कोशिका विभाजन प्रकाश संश्लेषण के लिये आवश्यक अवयव है :–

   (अ) मृदा (ब) खाद
   (स) जल (द) वायु

3.पौधों की पत्तियों के पर्ण रन्ध्रों के माध्यम से पानी के उत्सर्जित करने की प्रक्रिया को कहते है :–

   (अ) वाष्पीकरण (ब) वाष्पोर्त्सजन
   (स) अवशोषण (द) वृषण

4. जिन नहरों में हमेशा पानी बहता है, उन्हें कहते है :–

   (अ) अनित्यवाही (ब) नित्यवाही
   (स) एनिकट (द) झरने

5. ऐसा जल स्रोत जिसमें सीढ़ियाँ बनी होती हैं :–

   (अ) पक्का कुआँ (ब) कच्चा कुआँ
   (स) नलकूप (द) बावड़ी

6. अनावश्यक जल को खेत से निकासी की क्रिया को कहते हैः–

   (अ) जलमाँग (ब) जल निकास
   (स) जल संग्रह (द) जल प्लावन

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

7. नलकूप की औसत गइराई कितनी होती है ?

8. कुएँ कितने प्रकार के होते हैं ?

9. रहट का संचालन किस शक्ति के द्वारा होता है ?

10. जल माँग का सूत्र लिखिए ?

11. वह पम्प जो पानी के अन्दर रहकर कार्य करता है, क्या कहलाता है।

12. पहाड़ों की दरारों व कन्दराओं से रिसने वाला पानी का स्रोत क्या कहलाता है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

13. सिंचाई किसे कहते हैं ?

14. किन कृषण क्रियाओं के लिये जल आवश्यक है ?

15. भूमि में लाभदायक जीवाणु की क्रियाशीलता कैसे बढ़ती है?

16. सिंचाई के साधन किसे कहते हैं ?

17. पाताल तोड़ कुआँ कैसा होता है ?

निबंधात्मक प्रश्न

18. सिंचाई की परिभाषा देते हुये, सिंचाई के महत्त्व का वर्णन कीजिए।

19. सिंचाई के प्रमुख स्रोतों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

20. जलमाँग को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।

21. जल निकास किसे कहते है ? जिल निकास का महत्त्व का वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला

(1) ब	(2) स	(3) ब
(4) ब	(5) द	(6) ब

अध्याय–6
कृषि यंत्रों की सामान्य जानकारी
(General Information of Agricultural Implements)

देश के सत्तर के दशक में आयी हरित क्रान्ति का आधार यहाँ एक ओर उन्नत किस्में थी वहीं दूसरी ओर कृषि के यंत्रीकरण ने भी एक विशेष भूमिका निभाई। कृषि क्रियाऐं जैसे – खेत की जुताई, बुआई, निराई–गुड़ाई, फसल की कटाई, मड़ाई तथा ओसाई आदि में कृषि यंत्रों ने क्रान्तिकारी काम किया। देश में कृषि यंत्रों से सम्बन्धित तकनीकी का विकास, प्रचार व प्रसार हेतु भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् (ICAR) ने राष्ट्रीय स्तर पर वर्ष 1976 में भोपाल (म.प्र.) में केन्द्रीय कृषि इंजीनियरिंग संस्थान (CIAE) की स्थापना की।

कृषि यंत्रीकरण का तात्पर्य सभी कृषि कार्य मनुष्य या पशु के स्थान पर यदि मशीन से किया जाये तो उसे कृषि यंत्रीकरण कहते है। यह मुख्यतः दो प्रकार के होते है – पूर्ण (सम्पूर्ण कार्य मशीनों से किये जाये) व आंशिक (कुछ मशीनों के द्वारा और कुछ पशुओं के द्वारा) यंत्रीकरण।

आज के परिप्रेक्ष्य में कृषि यंत्रीकरण की हमारे देश में आवश्यकता बढ़ती जा रही है, क्योंकि अन्य उद्योगों की तुलना में आज कृषि कार्यों के लिए मानव श्रम (मजदूर) की उपलब्धता कम है तथा कृषि कार्यों को समय पर सम्पादित करने में कठिनाई आने से फसल उत्पादन लागत बढ़ रही है कृषि बिना यंत्रीकरण कम लाभ का साधन होता जा रहा है तथा परम्परागत कृषि मजदूर गाँव को छोड़कर शहर की ओर पलायन कर रहा है। मजदूरों की इस कमी को कृषि यंत्रों के प्रयोग से निश्चित समय में पूरा करना सम्भव है।

कृषि में यंत्रीकरण निम्नलिखित तीन तरीको से किया जा सकता है :–

1. छोटे किसानों के लिए बैलों से चलाने वाले उन्नत यंत्रों का प्रयोग।
2. मध्यमवर्गीय किसानों के लिए छोटे ट्रेक्टर और उनसे चलने वाले यंत्रों का प्रयोग।
3. बड़े किसानों के लिए बड़े ट्रेक्टर, कम्बाइन आदि यंत्रों का प्रयोग।

कृषि यंत्रीकरण के लाभ :–

अ. कार्य क्षमता में वृद्धि (Increase efficiency):- यंत्रों की सहायता से कम समय में अधिक कृषि कार्य किया जा सकता है।

ब. समय की बचत (Time saving):- मानव (0.1 अश्व शक्ति) या पशु श्रम (0.5 अश्व शक्ति) के द्वारा कार्य करने में अधिक समय लगता है। वही कार्य यंत्र की सहायता से (ट्रेक्टर) कम समय में निष्पादित किया जा सकता है।

स. कम श्रम की आवश्यकता (Less labour requirement):- मानव श्रम प्रति फसल उत्पादन, यंत्रों से करने पर कम मजदूरों की आवश्यकता पड़ती है, जैसे – खेत जुताई, फसल बुआई व कटाई ट्रेक्टर से करने पर कम श्रम की जरूरत होगी।

द. उत्पादन लागत में कमी (Less cost of production):- यंत्रों द्वारा किया गया कार्य मानव व पशु शक्ति की तुलना में दक्षता व समय पर होने से उत्पादन में बढ़ोत्तरी व कम लागत में सम्पन्न होगा।

य. भूमि सुधार (Land reclamation):- ऊँची नीची, जंगल टीले आदि भूमि की सफाई कर उसे कृषि योग्य बनाया जा सकता है इसके लिए बड़े ट्रेक्टर, बुलडोजर, जे.सी.बी. आदि का उपयोग।

र. अनावश्यक व्यय की बचत (Saving of unnecessary expenses):- पशु शक्ति में इनका रखरखाव एक महँगा सौदा है कृषि यंत्रों का कार्य के समय ही डीजल या पेट्रोल खर्च होगा, इस तरह अनावश्यक व्यय की बचत होती है।

ल. जोखिम में कमी (Avoidance of Risk):- पशुओं या मानव शक्ति से काम करने पर कृषक को हानि उठानी पड़ती है क्योंकि फसल का बहुत हिस्सा वर्षा में भीग जाता है या समय पर बुआई नहीं होती परन्तु यंत्रीकरण से इसमें कमी आयेगी।

व. अन्य (Other):- इन सब लाभों के अलावा कुछ अन्य लाभ जैसे – फसल उत्पादन में वृद्धि, दूसरे व्यवसाय की स्थापना सम्भव तथा राष्ट्र का औद्योगीकरण होगा।

यंत्रीकरण से हानियाँ (Disadavantages of mechanization):-

अ. उच्च प्रारम्भिक लागत (High initial cost):- भारतीय कृषकों का बड़ा भाग आर्थिक रूप से बहुत कमजोर है तथा इन महँगे यंत्रों को खरीदना उनके वश की बात नहीं है।

ब. जोतों का आकार छोटा होना (Small holding size):- भारतवर्ष में सीमान्त व लघु (2 हैक्टर से कम जोत धारक) कृषक 80 प्रतिशत से अधिक है, वहां मशीनों का पूर्ण उपयोग सम्भव नहीं होगा तथा परिवारों के आपसी बंटवारो से जोतो का आकार निरन्तर छोटा होता जा रहा है।

स. प्राविधिक शिक्षा की कमी (Lack of technical education):- भारत में कृषकों की अशिक्षा के कारण तकनीकी ज्ञान की कमी है जिस कारण यंत्रों की मरम्मत व सम्बन्धित ज्ञान के लिए कृषकों को गाँवों से कस्बों या शहरों में जाना पड़ता है जहाँ जिसमें समय व धन की हानि होती है।

द. अन्य हानियाँ जैसे – पशुओं द्वारा प्राप्त अवशेष लाभों (गोबर की खाद, चमड़ा आदि) में कमी होगी।

भारतवर्ष में कृषि यंत्रीकरण की उन्नति व भावी सम्भावनाऐं (Progress of Agril. mechanization and scope):-

भारतवर्ष में कृषि में यंत्रीकरण विभिन्न क्रियाकलापों को पूरा करने के लिए वर्ष दर वर्ष बढ़ रहा है। सर्वेक्षण से पता चलता है कि 2 टन प्रति हैक्टेयर उपज के लिए 1 अश्व शक्ति की दर से शक्ति की आवश्यकता पड़ती है जिसे आधुनिक ट्रेक्टर, डिस्क हल, पम्पिंग सेट, रिपर, कम्बाइन और पावर टिलर का निर्माण कर पूरा किया जा रहा है।

भारत में यंत्रीकरण आवश्यक है जैसा कि इनके लाभ व उन्नति से पता चलता है अतः इस ओर काफी प्रबल सम्भावनायें है परन्तु इसके लिए निम्न कारकों को ध्यान में रखना होगा जैसे बड़े – बड़े यंत्रों के निर्माण से ज्यादा ध्यान देशी यंत्रों को ही सुधार कर उन विशेष परिस्थितियों और जलवायु अनुकूल बनाने से कार्यदक्षता बढ़ेगी तथा किसान लाभान्वित होंगे। किसानों को भी सहकारी खेती को अपनाने की जरूरत है जिससे किसानो के व्यक्तिगत खर्च में कमी रहेगी। सरकार के प्रयास सस्ती दरों पर ऋण की व्यवस्था करना, तकनीकी ज्ञान हेतू कृषक प्रशिक्षण व्यवस्था, यंत्र विकास के लिए अनुसंधान केन्द्रो की स्थापना तथा प्रदर्शनियों का आयोजन करते रहना चाहिए, जिससे भारत में यंत्रीकरण को बढ़ावा मिलेगा।

कृषि यंत्रो का वर्गीकरण (Classification of Equipments):-

शस्य क्रियाओं व शक्ति स्रोत के आधार पर कृषि यंत्रो का वर्गीकरण किया जा सकता है जो निम्नलिखित है :–

अ. शस्य क्रियाओं के आधार पर :–

1. जुताई एवं बीज शैय्या तैयार करने वाले कृषि यंत्र –

हल – प्राथमिक भू–परिष्करण की कृषि क्रियाएँ जिनमें मृदा की जल शोषण क्षमता, जलधारण क्षमता, मृदा भुरभुरापन एवं उर्वरता में बढ़ोतरी होने से पौधे की वृद्धि अच्छी हो तथा फसल उगाने के बाद भी इस अवस्था को बनाये रखा जा सके भू–परिष्करण कहलाती है। इसके लिए विभिन्न हल प्रयुक्त होते है, उदाहरण – देशी हल, मोल्ड बोर्ड हल एवं तवे दार (डिस्क) हल

हेरो – यह भी प्राथमिक भू–परिष्करण यंत्र है जिसका उपयोग जुताई के पहले खरपतवार काटने, सतह की पपड़ी तोड़ने, मिट्टी के बड़े–बड़े ढेलों को तोड़कर भुरभुरा करने व खेत की बिखरी खाद को मृदा में मिलाने में किया जाता है। इस प्रकार डिस्क हेरो, ड्रेग हेरो (स्पाइन टूथ, स्प्रिंग टाइन, पेग/तिकोनिया हेरो) व ब्लेड हेरो (बाखर) आदि।

कल्टीवेटर – यह द्वितीय भूपरिष्करण यंत्र है जिसका उपयोग लाइन में बोयी गई फसलों में घास निकालना, मिट्टी को भुरभुरी करना, निराई–गुड़ाई करना आदि है। यह क्षेत्र मानव, पशु व ट्रेक्टर चालित हो सकता है तथा इनकी संरचना के आधार पर खुरपादार, तवेदार व सतही क्ल्टीवेटर तथा प्रयोग के आधार पर कानपुर कल्टीवेटर, वाह–वाह कल्टीवेटर, शाबास कल्टीवेटर, आर.एस.कल्टीवेटर व ट्रेक्टर चालित कल्टीवेटर को भारतवर्ष में उपयोग लेते है।

2. बुआई वाले कृषि यंत्र – खेत में फसल बुआई के समय तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए– (1)बीज की मात्रा, (2)बीज की उचित दूरी व (3) बुआई की उचित गहराई। इन कार्यों को सम्पादित करने हेतु प्रयुक्त यंत्र डिबलर, सीड ड्रील, देशी हल के पीछे बुआई, प्लान्टर आदि हैं।

3. निराई – गुड़ाई वाले कृषि यंत्र – द्वितीयक भू परिष्करण यंत्र जिनमें खुरपी, कुदाली, हैंड हो, फावड़ा, व्हील हो, ड्राई लैण्ड वीडर आदि।

4. कटाई वाले कृषि यंत्र – फसल पक जाने के बाद उसकी कटाई में प्रयुक्त यंत्रों में हँसिया (दराँती), कटर बार, मोअर, रीपर एवं कम्बाइन आदि।

5. मड़ाई तथा ओसाई वाले कृषि यंत्र – फसल के काटने के बाद उसकी मड़ाई की जाती है। इसमें दानों को स्वतंत्र किया जाता है फिर ओसाई क्रिया की जाती है जिसमें दानों से भूसा दूर उड़ा दिया जाता है। इन कार्यों के लिए प्रयोगार्थ यंत्र में थ्रेसर (अल्प पैड व शक्ति चालित) मुख्यतः प्रयोग में लेते हैं। आजकल बडे फार्मो पर फसल कटाई, मड़ाई व ओसाई (सफाई) ये तीनों कार्य एक साथ कम्बाइन (Combine) की मदद से करते हैं।

6. अन्य कृषि यंत्र – फसल विशेष की शस्य क्रियाओं को पूरा करने में प्रयोग लेते है। जैसे **भूमि को समतल करने में** – पाटा, स्क्रेपर, रोलर, लेबलर, लेंजर–लेवलर

कूँड़ बनाने में – रिज मेकर

चारा काटने में – गंडासा, चॉफ कटर

ब. शक्ति स्रोत के आधार पर :–

1. मानव चालित कृषि यंत्र –

साधारणतया एक स्वस्थ मनुष्य में 0.1 एच.पी. (अश्व शक्ति) होती है। इससे खुरपी, फावड़ा, हो, कुदाली, हँसिया, डिबलर आदि यंत्र चला सकता है।

2. पशु चालित कृषि यंत्र – कृषि में पशु शक्ति के रूप में बैल, ऊंट, घोड़े, भैंसे व हाथी का प्रयोग होता है। एक सामान्य स्वस्थ बैल में 0.5 एच.पी (अश्व शक्ति) होती है। जिससे विभिन्न कृषि यंत्र जैसे हल, कल्टीवेटर, हैरो, सीड ड्रील, ऑलपेड थ्रेसर आदि चलते हैं।

3. ट्रेक्टर चालित कृषि यंत्र – यहां शक्ति का प्रमुख स्रोत ऊष्मा इन्जिन है। साधारण कृषि कार्यों हेतु 32 से 42 अश्व शक्ति के ट्रेक्टर बाजार में उपलब्ध है जिनसे विभिन्न कृषि यंत्र. चला सकते है। ट्रेक्टर माउण्टेड, सेमी माउण्टेड एवं ट्रेल्ड टाइप के हो सकते हैं।

प्रमुख कृषि यंत्रों की सामान्य जानकारी

1. देशी हल (Desi Plough):– भारतवर्ष में देशी हल का प्रयोग प्राचीन काल से ही सबसे ज्यादा किया जा रहा है। इस यंत्र का प्रयोग जुताई–बुआई तथा निराई–गुड़ाई के लिए किया जा सकता है यह आकृति, आकार, भार व प्रयोग के अनुसार लगभग 40 प्रकार का होता है परन्तु सभी का कार्य सिद्धान्त लगभग एक जैसा ही होता है। इसे गाँव का बढ़ई अथवा लुहार आसानी से बना लेता है। इस हल के मुख्यतः 5 भाग है (1)बॉडी (body), (2)शू (shoe), (3)फाल (share), (4)हरीस (beam) and (5)हत्था (handle)

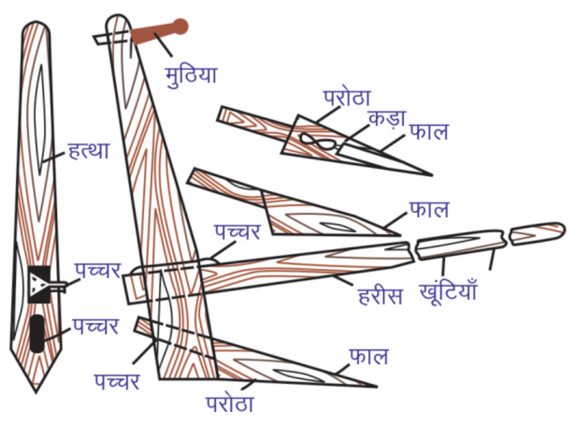

देशी हल

1. बॉडी (Body) :– बॉडी हल का मुख्य भाग है। यह 3 फीट लम्बा लकड़ी का बना होता है जिसमें शू, हरीस तथा हत्था जुड़ा रहता है।
2. शू (Shoe) :– यह हल को सहारा देता है तथा स्थिर रखता है तथा निश्चित गहराई पर फॉल को स्थिर रखता है।
3. हरीस (Beam) :– यह लकड़ी का एक लम्बा टुकड़ा होता है जो बॉडी को जुड़े से जोड़ता है।
4. फाल (Share) :– फार या फाल हल का कार्य करने वाला भाग है जो शू से जुड़ा रहता है और मिट्टी के अन्दर घुसकर उसे चीरता है।
5. हत्था (Handle) :– यह भी लकड़ी का एक टुकड़ा होता है जो बॉडी से लम्बवत जुड़ा रहता है। हाली या किसान इसे पकड़कर हल और बैलों को नियन्त्रित करता है तथा दिशा प्रदान करता है।

2. मोल्ड बोर्ड हल (Mould board Plough):–

यह हल हर प्रकार की मिट्टी में अच्छी तरह प्रयोग में लाया जाता है चूंकि यह मिट्टी को पलटता है जिससे खरपतवार आदि नीचे दबकर खाद बन जाते है। इस हल के तीन मुख्य भाग होते हैं। (अ) हल तल (plough bottom) (ब) हरीस (beam) तथा (स) हत्था (handle)

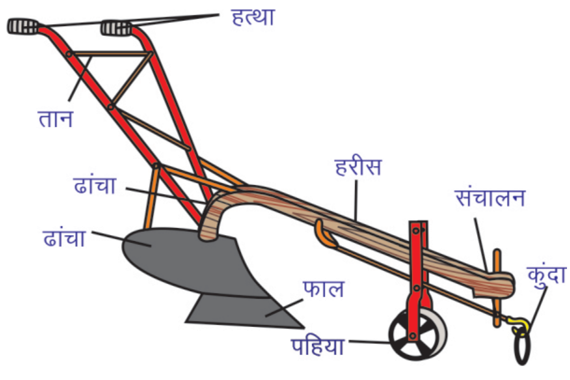

मोल्ड बोर्ड हल

हल तल – इसके चार भाग होते है जिसमें (1) फार का कार्य मिट्टी को काटना है तथा ढलवा लोहे या इस्पात से इसे बनाया जाता है जो कि 12 इंच तक जुताई करती है। (2) मोल्ड बोर्ड का कार्य काटी गई मिट्टी को भुरभुरी बनाना है। (3) लैड साइड भाग कूँड़ की दीवार के विरूद्ध हल तल को सहारा देता है। (4) आधार (frog) भाग जिसमें फाल मोल्ड बोर्ड तथा लैड साइड जुड़ती है। पूर्ण स्थिरता, मजबूती तथा हल की पर्याप्त दक्षता के लिए इसमें कई छेद होते हैं।

हसल या हरीस (Beam) – इसका एक सिरा हलतल से तथा दूसरा सिरा आगे की ओर रहता है। इस भाग की लम्बाई कम (भारी हलों की) या ज्यादा (हल्के हलों की) हो सकती है।

हत्था – हल को नियन्त्रित करने के लिए क्लोविस (clovice) से जुड़ा होता है। लम्बे हरीस वाले हलों में एक ही हत्था तथा छोटे हरीस वाले हलों में दो हत्थे होते है। ये लकड़ी या इस्पात के बने होते है।

इस हल में कूँड़ की गहराई को बढ़ाने हेतु फाल की नोक को लैंड साइड एड़ी की अपेक्षा नीचे की तरफ 5 से 8 मिली मीटर तथा झुकी हुई रखते है। इस झुकाव को खड़ा झुकाव (vertical suction) कहते है। इसी तरह कूँड़ की चौड़ाई को बढ़ाने हेतु फार की नोक को लैंड साइड की एड़ी की अपेक्षा, जमीन के समानान्तर 3 से 5 मिलीमीटर बाहर को रखा जाता है इसे क्षैतिज झुकाव (horizontal suction)कहते है।

3. हैरो :– इस यंत्र का प्रयोग ढेलो को तोड़ने, खरपतवार, काटने, मिट्टी को भुरभुरी बनाना, बीज ढकना तथा सतह को समतल बनाने में होता है। बोने से पहले बीज शैय्या की तैयारी में भी इसका प्रयोग होता है। हैरो निम्नलिखित प्रकार के होते हैं –

(1) डिस्क हैरो (Disk Harrow), (2) ड्रेग हैरो (Drag Harrow), व (3) ब्लेड हैरो (Blade Harrow)

इनमें से ड्रेग हैरों का प्रयोग सामान्यतः जुताई की गई जमीन को समतल करने तथा भू सतह की पपड़ी तोड़ने (स्पाइन टूथ हैरों का) व कंकरीली पथरीली जमीन (कमानीदार हैरो) में प्रयोग कर सकते है जिनका सीमित उपयोग भारतवर्ष में किया जाता है। परन्तु डिस्क व ब्लेड हैरो का प्रयोग प्रमुखता से होता है।

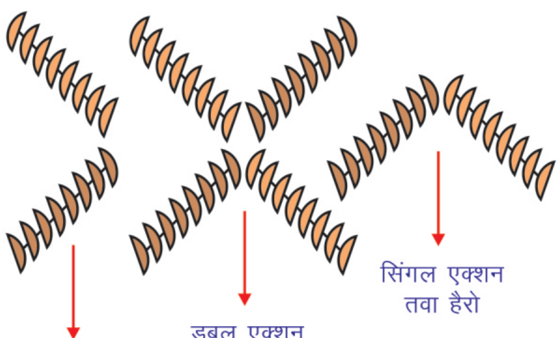

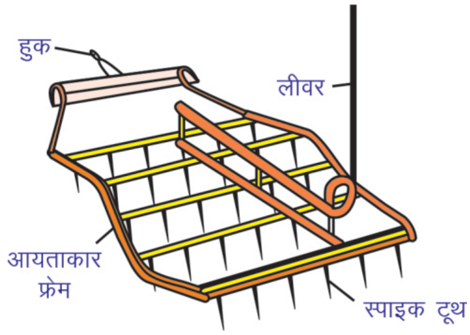

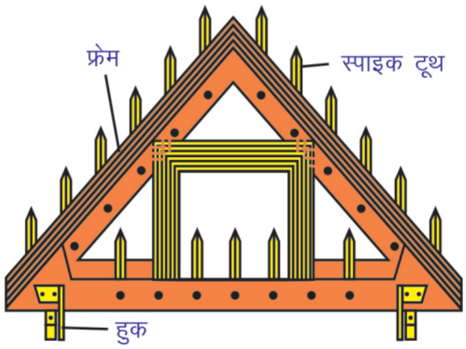

डिस्क हैरो :– इसमें जुताई से पहले इस्पात के तवों की मदद से (जो लगातार घूमते हुए) मृदा को काटकर भुरभुरा बनाते है। लम्बी घास, खरपतवारों तथा हरी खादों आदि से भरे हुए खेतो में डिस्क का व्यास 12 से 24 इंच तक होता है। यह डिस्क गैंग बोल्ट (45 से 60 सेमी.) (Gang Bolt) जो एक वर्गाकार छड़ होती है उस पर निश्चित संख्या कोण (20^0) तथा समान अन्तराल पर लगे रहते है। प्रत्येक आरवत वोल्ट (गैंग) पर तवों को घुमाने के लिए अलग से दो – दो वियरिंग लगी होती है। दो गैंगों के मध्य कोण को अन्तर्गत कोण कहते है, जिसे कम या अधिक किया जा सकता है। गैंग वोल्ट की फिटिंग के अनुसार डिस्क हल तीन प्रकार के होते है सिंगल एक्शन, डबल एक्शन तथा ऑफसेट डिस्क (बखर हैरो) हैरो। इनमें से डबल एक्शन डिस्क हैरो मे दो बार मिट्टी पलटी जाती है।

ब्लेड हैरो या बखर :– इसका प्रयोग खरीफ व रबी फसलों के लिए चिकनी मिट्टी में बीज शैय्या तैयार करने के लिए होता है साथ ही मिट्टी को भुरभुरी बनाने में भी प्रयोग किया जा सकता है। इस हैरो की ब्लेड इस्पात की बनी होती है तथा बाडी व हरीस शीशम या बबूल की लकड़ी का $1\frac{1}{2}$ – 3 फीट लम्बा होता है।

4. कल्टीवेटर :– मुख्यतः द्वितीय भूपरिष्करण यंत्र है जो पशुशक्ति व ट्रेक्टर चालित होते है तथा लाइन में बोई गई फसलों में निराई – गुड़ाई व आलू जैसी फसल की खुदाई में प्रयुक्त करते है। भारतवर्ष में प्रयोग होने वाले कल्टीवेटर मे कार्मिक कानपुर शाबास, वाह–वाह, आर.एस, आदि प्रकार के साथ ट्रेक्टर चालित

कल्टीवेटर प्रचलन में है। इस यंत्र के प्रयोग का उद्धेश्य खरपतवार का नियंत्रण करना जिससे वे पोषक तत्वों के लिए फसल संघर्ष न करें, सतह का वाष्पीकरण रोकना, वर्षा जल का भूमि में रिसाव बढ़ाना, उचित वायु प्रवेश की सुविधा तथा फसल के विकास के समय मिट्‌टी को अच्छी टिल्थ में रखना है।
इस यंत्र के निम्नलिखित भाग हैं :—

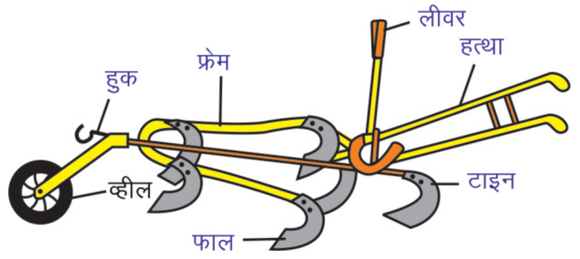

कल्टीवेटर

(1) हत्था (handle) – यह लकड़ी या माइल्ड स्टील का बना होता है जो एक या दो संख्या में होते है जिन्हे पकड़ कर खेत में इसे चलाया जाता है।
(2) ढाँचा (frame) – यह भाग स्टील से निर्मित होता है जिस पर सारे भाग जुड़े रहते है।
(3) लीवर (liver) – यह लीवर फ्रेम रैचेट के साथ जुड़ा रहता है। इससे फालों के बीच की दूरी को घटाया – बढ़ाया जा सकता है। यह कमानीदार इस्पात का बना होता है।
(4) खुरपे/फाल (shavels) – उच्च कार्बन स्टील के बने होते हैं जो फ्रेम से जुड़े होते है इनकी संख्या 5 – 7 होती है। बनावट के अनुसार दोनो तरफ से उपयोग में लाये जाते है (एक तरफ की धार समाप्त होने पर दूसरी तरफ से काम में लिया जा सकता है) इन फालों की चौड़ाई 3 – 4 इंच व लम्बाई 8 – 10 इंच तक होती है।
(5) गेज व्हील (gauge wheel) – कल्टीवेटर का अग्रस्त भाग गहराई नियन्त्रण पहिया जो कास्ट आयरन का बना होता है।
(6) शैन्क (shank) – यह गोलाकार होता है और ऊपरी तरफ फ्रेम से तथा नीचे की तरफ खुरपे से जुड़ा रहता है। सभी खुरपे (फाल) इसी में बोल्ट शैन्क से कसे रहते है इनकी संख्या फाल की संख्या के समान होती है।
(7) हरीस (beam) – यह भाग लकड़ी या लोहे का बना होता है जहाँ लोहे से बना होगा वहीं पर हुक लगा होता है इसी की सहायता से इसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने व ले जाने में सुविधा रहती है।

5. बीज उर्वरक ड्रिल (सीड कम फर्टीलाइजर ड्रिल)

फसल को बोने में सबसे प्राचीन व आसान विधि छिड़काव विधि रही है परन्तु जैसे – जैसे बीज की लागत बढ़ी तो फसल बुआई पर बीज की मात्रा, इसकी गहराई व उचित पौध अन्तराल भरपूर उपज हेतु आवश्यक होता गया। उसी तरह बुआई की विधियों की जरूरत पड़ी जहाँ सीमान्त कृषक देशी हल के पीछे कूँड़ में बीज बोता है। आजकल सीड कम फर्टीलाइजर ड्रिल

पशुचालित व ट्रैक्टरचालित हैरो में अन्तर

पशुचालित हैरो	ट्रेक्टरचालित हैरो
1. बैलों की सहायता से चलाये जाते है।	ट्रैक्टर द्वारा चलाये जाते है।
2. यह सिंगल एक्शन होता है।	यह सिंगल, डबल या ऑफसेट तीनों रूप में होते हैं।
3. इसकी सीमित क्षमता के कारण कम क्षेत्रफल में जुताई होती है।	अधिक क्षमता के कारण अधिक क्षेत्रफल में जुताई होती है।
4. इसमें एक डिस्क का व्यास 30 – 40 सेमी होता है।	इनकी एक डिस्क का व्यास 45 – 60 सेमी. होता है।
5. प्रति गैंग डिस्क की संख्या 3 से 4 होती है।	यहाँ डिस्क संख्या 4 से 10 होती है।
6. समय अधिक लगता है।	समय कम लगता है।

डिस्क हल व डिस्क हैरो में अन्तर

डिस्क हल	डिस्क हैरो
1. यह प्राथमिक भू परिष्करण यंत्र है।	यह द्वितीय भू परिष्करण यंत्र है।
2. यह गहरी जुताई करता है तथा खरपतवार भूमि के नीचे दबा देता है।	यह उथली जुताई करता है तथा खरपतवार को काटता रहता है।
3. इसमें डिस्क कोण 45° तक होता है।	यह कोण अधिक से अधिक 20° तक होता है।
4. इसमें टिल्ट कोण 15 से 25° होता है।	इसमें टिल्ट कोण नहीं होता है।
5. इसमें गैंग नहीं होता तथा डिस्क की संख्या बहुत कम होती है।	इसमें गैंग होती है तथा डिस्क की संख्या बहुत अधिक होती है।

कल्टीवेटर व हैरो में अन्तर

कल्टीवेटर	हैरो
1. इस यंत्र का उपयोग खरपतवार नष्ट करने, ऊपरी परत तोड़ने, बीज बुआई, उर्वरक मिलाने आदि में करते है।	इसका उपयोग जमीन भुरभुरी करने, पपड़ी तोड़ने, बीज को मिट्टी से ढकने आदि कार्यो के लिए होता है।
2. इसका उपयोग निराई – गुड़ाई हेतु वहीं होता है जहां लाइन में फसले बोई गई हो।	इसका उपयोग निराई – गुड़ाई हेतु नहीं करते इससे हरी खाद मिलाने का कार्य किया जाता है।
3. इसमें फाल (shovel) लगे होते हैं।	इसमें तवे लगे होते हैं।

पहले कूँड़ से उर्वरक (डी ए पी व पोटाश) नीचे गहराई पर डालकर मिट्टी चारों तरफ गिरती है। समान गहराई पर कूँड़ बनाता है तथा उसी में बीज डालते हुए उसे मिट्टी से दबाता है।

इस यंत्र का प्रयोग करने से उर्वरक डालने वाले समय की बचत होती है तथा उर्वरक सीधें अंकुरित बीज के जड़ तंत्र के पास होने से उर्वरक दक्षता बढ़ती है तथा फसल भी अच्छी रहती है।

बीज–उर्वरक ड्रिल यंत्र में बीज की नली तथा उर्वरक की नली अलग – अलग होती है, जिनसे दोनो क्रमशः कूँड़ बनने के बाद गिरती है परन्तु उर्वरक की मात्रा को मापने तथा उसका नियंत्रण करने हेतु बीज ड्रिल की भांति नियंत्रण तंत्र होता है जो निम्न में से कोई एक हो सकता है :–

बीज–उर्वरक ड्रिल

1. **विलोडक युक्त तंत्र :–** पंक्तियों में बुआई करने में जहाँ घूमने वाली प्लेट होती है जिसे हाथ से तब तक घुमाते है जब इच्छित छेद हॉपर के ऊपर एक विलोडक (एजीटेटर) यंत्र लगा होता है जो बीज/दानेदार उर्वरक को छेद के ऊपर आगे–पीछे घुमाता रहता है तथा इनकी बहाव दर को बनाये रखता है और इन्हें रुकने नहीं देता है।
2. **पूर्णी तली तथा पार्श्विक वितरण तंत्र (Rotary Bottom Side Delivery System) :–** इस यंत्र में उर्वरक ड्रिल में भिन्न – भिन्न कूँड़ों के लिए पृथक–पृथक उर्वरक हॉपर होते है जो उल्टे शंकु के आकार की होती है जिनके चपटी तली पहिये से गियर द्वारा प्राप्त शक्ति से क्षैतिज तल पर घूमती है। हर हॉपर में एक विडोलक व छोटा यंत्र लगा होता है जो इस में भरे उर्वरक को धकेल कर बगल में बने छिद्र में डालता रहता है इस छिद्र की नाप आवश्यकतानुसार नियंत्रित की जा सकती है। उर्वरक दर बीज दर की तरह निम्न तरह से गणना की जाती है।

जैसे (1) ड्रिल के पहिये की परिधि ज्ञात करते है,

(π D जहां π= 3.14 व D = पहिये का व्यास मीटर में)

(2) ड्रिल के हॉपर में बीज/उर्वरक भर कर इसके नीचे ट्यूब की जगह थैलिया बांध देते है तथा निश्चित समय पर कितना भरा है इसकी गणना करते है।

(3) पहिये को घुमाते है थैलों में बीज/उर्वरक गिरता है तो गिने हुए चक्करों में ड्रिल द्वारा कवर किया क्षेत्रफल वर्गमीटर में ज्ञात हो जाता है तथा बीजों को तोल कर ज्ञात कर लेते है।

(4) बीज मात्रा (किग्रा.) में ड्रिल के कुल क्षेत्रफल (वर्ग मीटर) से भाग देकर 10000 से गुणा करने पर प्रति हैक्टर बीज दर ज्ञात हो जाती है।

3. **तारक प्लेट तंत्र (Star Plate Feed System) :–** इस यंत्र में भी ड्रिल के अलग – अलग हॉपर होते है तथा एक क्षैतिज तारक प्लेट पर लगे रहते है जिनकी परिधि के किनारें पर काफी संख्या में लम्बे दांते बने होते है। हॉपर में भरा बीज/उर्वरक तारक प्लेट के ऊपर आता है तो इन खांचों में उर्वरक/बीज भर कर गोलाई में खिसकता हुआ उस स्थान पर पहुँचता है जहाँ हॉपर की तली में छिद्र होता है जिसके द्वारा यह उर्वरक/बीज नली में गिर कर कुंड में पहुंच जाता है। बीज/उर्वरक की दर कम या अधिक हॉपर में छिद्र को घटाने व बढ़ाने से व्यवस्थित कर सकते है। इससे बीज/उर्वरक आवश्यकतानुसार खेत में डाला जा सकता है।

अन्य भाग :

हॉपर :–

बीज व खाद के बक्से जिसमें बीज/उर्वरक भरा रहता

है उसे बीज और फर्टीलाइजर हॉपर कहते है। फर्टीलाइजर (उर्वरक) के लिए अलग हॉपर भी हो सकता है।

मीटरिंग मैकेनिज्म :–

हॉपर की तली में घुमने वाली प्लेट लगी रहती है जो बीज/उर्वरक को छेद/सेल में ले जाती है, ये प्लेटे निम्न प्रकार की होती है :–

1. एज ड्राप (Edge Drop)
2. फ्लेट ड्राप (Flate Drop)
3. हिल ड्राप (Hill Drop)

पहली दो (एज व फ्लेट ड्राप) प्रकार की प्लेटों में सेल बाहरी किनारे पर लगी होती है तथा हिल ड्राप में 3 – 4 बीज/उर्वरक के दाने प्रति सेल में आते है।

बीज लेने के बाद प्लेट कट आफ (Cut off) नीचे घूमती है जिससे बीज सेल में आ जाता है तथा यहाँ रूके बीज को धक्का देता है जिससे बीज/उर्वरक एक वाल्व के सहारे नलियों से कूँड़ में गिरता है।

शक्ति स्थानान्तरण :–

पहिये के घूमने से शक्ति चेन और स्प्राकेट के द्वारा स्थानान्तरित होकर सीड प्लेट को घुमाती है जिससे बीज/उर्वरक नीचे गिरता है।

चालक पहिये :–

यंत्र को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए पहिये होते है।

क्लच (Clutch) :–

बीज/उर्वरक के दानों का सही मात्रा में कूँड़ में गिरना क्लच के द्वारा नियंत्रित किया जाता है।

उर्वरक बीज ड्रिल के प्रयोग में सावधानियाँ

1. खेत में जाने से पूर्व बीज व उर्वरक की दर के लिए समायोजित कर लेना चाहिए ताकि सही दर से खेत में गिरे।
2. बीज व उर्वरक साफ होने चाहिए।
3. खेत समतल व ढेले तथा खरपतवारों से मुक्त होना चाहिए।
4. खेत में उचित नमी होनी चाहिए।
5. बीज व उर्वरक की नलियों को देखते रहना चाहिए कि उनमें बीज व उर्वरक रूक तो नही रहा।
6. प्रत्येक मोड़ पर बीज व उर्वरक का गिरना बंद कर देना चाहिए।
7. यंत्र के नट–बोल्ट कसे हो तथा ग्रीस वाले भाग में ग्रीस लगी हो जिससे यंत्र के सभी भाग आसानी से कार्य करें।

प्लान्टर (Planter) – पौध रोपण यंत्र :–

नर्सरी में तैयार पौधे (धान, गन्ना, सब्जियों आदि) तथा कंद वर्गीय फसलों (आलू, शकरकंद आदि) के रोपण का पारम्परिक तरीका जिनमें हाथ से बोना (रोपण) पड़ता है जिससे अधिक समय तथा श्रम की आवश्यकता होती है साथ ही इन फसलों की एक समान दूरी व गहराई पर रोपण मेहनत का कार्य है यह कार्य आजकल दक्षता से कम लागत में प्लान्टर (Planter) से किया जा रहा है। जो फसलानुसार प्रचलन में है जैसे –

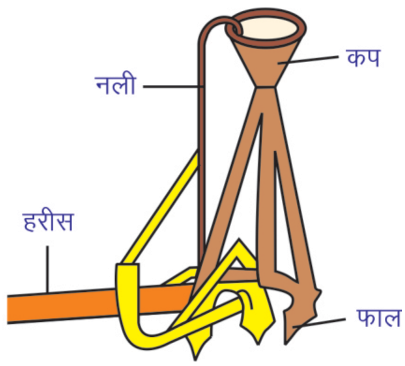

अ. आलू बोने की मशीन (Potato Planter)
ब. गन्ने बोने की मशीन (Sugarcane Planter)
स. धान बोने की मशीन (Rice Planter)
द. सब्जी बोने की मशीन (Vegetable Planter)

इस यंत्र के निम्नलिखित कार्य–विधि (Mechanism) है:–

1. **ऑटोमेटिक (Automatic) स्वचालित :–** इस मशीन में एक पिकिंग व्हील होती है जिसमें 3–12 तक पिकर आर्म (भुजाएँ) होती है। पिकर आर्म्स पिकर हेड द्वारा पिकिंग कक्ष (बीज बॉक्स–हॉपर) से जुड़ी रहती है। प्रत्येक पिकर हेड में तेज नुकीले पिकर बिन्दु लगे होते है जो पौध/बीज का एक–एक टुकड़ा उठा लेते है जब पिकर आर्म इसके नीचे आती है तब इसे छोड़ देता है जो स्पाउट में गिरता है जिसके द्वारा यह कूँड़ में पहुँचाता है। पिकर व्हील के चक्करों की संख्या को बदलकर बीज से बीज की दूरी को घटा–बढ़ा सकते है। पिकिंग कक्ष में बीज/पौध की मात्रा का बहाव स्वतः नियंत्रित होता है। मानव श्रम केवल हॉपर में पौध/बीज भरे है या नहीं पिकिंग कक्ष बन्द तो नहीं है इसे देखने में होता है।
2. **उच्च गति ऑटोमेटिक (High Speed Automatic) :–** इस यंत्र में दो पिकर व्हील होती है। प्रत्येक में आठ–आठ पिकर भुजाएँ होती है उच्च गति की बुआई साधारण गति की दुगुनी गति पर चलती है परन्तु

पिकर आर्म्स (भुजाएँ) ऑटोमेटिक मशीन से तेज नहीं चलती है।

3. अर्द्ध ऑटोमेटिक (Semi Automatic) :– इसकी बीज गिरने की प्रणाली उपरोक्त दोनो विधियों से सर्वथा भिन्न है। इसमें बीज/पौध एलीवेटर (उत्थापक) व्हील से फीड स्पाउट से घूमती हुई क्षैतिज फीडरिंग में गिरती है। जहाँ से कूँड़ में गिरता/रोपित होता रहता है। प्लान्टर पर बैठे आदमी की जिम्मेदारी है कि यह पॉकेट में पौध/बीज रखता रहे जिससे रोपण चलता रहे।

आजकल आलू के प्लान्टर के साथ पौध का रोपण भी खेत में मशीनों से किया जाता है जिन्हे ट्रान्सप्लान्टर कहते है। इसको धान व गन्ना जैसी धान्य फसलों के साथ सब्जी वर्गीय फसलों के खेत में पौध रोपण में काम में लेते है।

प्लान्टर उपयोग में लेते समय निम्न बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :–

1. आलू में बीज (कंद के टुकड़े) निश्चित मोटाई में काटे जिससे इनका व्यास व वजन एक समान रहे जिससे बुआई/रोपण आसानी से हो सके।
2. प्लान्टर द्वारा 2 – 4 बीज एक जगह गिरते है अतः बीज गिरने का समायोजन (मक्का, मूँगफली, कपास, मटर, चना आदि में) ठीक तरह से किया जाये ।
3. पौध तैयार कर उनका रोपण आजकल ट्रान्सप्लान्टर से किया जाता है वहाँ पौध की लम्बाई व उम्र का ध्यान रखकर सही समय पर व गहराई में रोपण करें। जैसे – धान हेतु 3 सप्ताह की पौध। वर्तमान में प्रोट्रे (प्लास्टिक की ट्रे) में एक जैसी एक उम्र की पौध तैयार करके मशीनों का उपयोग रोपण में कर रहे हैं।
4. मशीन की गति एकसार रखें जिससे एक समान फसल खेत में रोपित हो जैसे – धान में दो पंक्ति प्लान्टर की गति 0.6 से 0.7 मीटर/सेकेण्ड जिससे एक घण्टे में 1000 वर्ग मीटर क्षेत्र में रोपण कार्य हो जाता है। वहीं गन्ने में 1.5 हैक्टर की बुआई 8 घण्टे में होती है।

कम्बाइन (Combine)

भारतवर्ष में इस यंत्र का प्रयोग बड़े फार्मो पर किया जा रहा है। आजकल पंजाब, हरियाणा के बड़े कृषक इस मशीन का उपयोग अपने खेतों के साथ राजस्थान के श्रीगंगानगर, हनुमानगढ़ आदि जिलों में (जहाँ धान व गेहूँ की खड़ी फसल की कटाई, मड़ाई और सफाई तीनो कार्य एक साथ होते है) इस मशीन को किराये पर लेकर (Custome Hiring) कर रहे है।

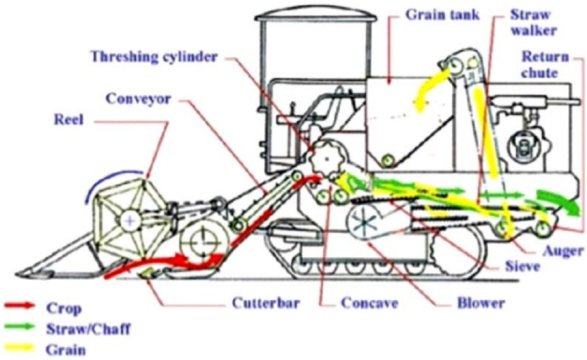

कम्बाइन के लाभ :–

1. कटाई और मड़ाई के खर्च में बचत।
2. कम श्रम की आवश्यकता।
3. किराये पर किसी सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती।
4. खेत शीघ्रता से खाली हो जाने से अगली फसल ले सकते हैं।
5. फसल को प्राकृतिक आपदाओं (ओले, वर्षा आदि) से क्षति नहीं होती ।
6. भूसा खेत में ही समान रूप से बिखेर दिया जाता है या ट्रेक्टर ट्राली में इकट्ठा कर लिया जाता है।

कम्बाइन से हानियाँ :–

1. खरीदने में अधिक धन व्यय करना पड़ता है।
2. इस मशीन को चलाने में दक्ष व्यक्ति की आवश्यकता होती है।
3. भूसा बेकार हो जाता है। (पशुओं के खाने लायक नहीं रहता)
4. सही अवस्था पर कटाई न होने पर दाने गीले रहते है।
5. बड़ी मशीन होने से अधिक ऊर्जा (HP) की जरूरत पड़ती है।

कम्बाइन के प्रकार :–

अ. बनावट के आधार पर वर्गीकरण

(i) स्ट्रेट थ्रू कम्बाइन (Straight Through Combine)

(ii) प्लेटफार्म टाइप (Plateform Type)

ब. शक्ति के आधार पर वर्गीकरण

(i) स्वचालित कम्बाइन (Automatic Combine)

(ii) पुलटाइप/ट्रेक्टर चालित कम्बाइन (Pull Type or Tractor Driven Combine)

कम्बाइन की बनावट –

इस यंत्र की निम्नलिखित मुख्य इकाईयाँ होती है :–

1. कटाई इकाई (Cutting Unit)
2. भरण तथा उत्थापन इकाई (Feeding and Elevating Unit)
3. गहाई इकाई (Threshing Unit)
4. पृथक्कारी इकाई (Seperating Unit)
5. सफाई इकाई (Cleaning Unit)

कटाई इकाई – मोअर के सिद्धान्त पर कार्य करता है जिसमें कटाई दण्ड (मुख्यतः लम्बाई 1 से 7 मीटर) के ऊपर रील (इसका व्यास 50 सेमी.) लगी होती है जिसका कार्य चालू स्थिति में फसल को कटाई दण्ड के ऊपर लाना होता है ताकि फसल सुगमता से काटी जा सके।

भरण तथा उत्पादन इकाई – कटी हुई फसल एक बेदी पर गिरती है जो या तो किरमिच की बनी होती है या ऑगर होता है इस इकाई का कार्य कटी फसल को गहाई इकाई में पहुँचाना है।

गहाई इकाई – इस इकाई के दो भाग होते है जिन्हे बेलन (खूंटीदार या रेतीदार) और अवतल पृष्ठ कहते है। बेलन द्वारा दानें डंठल तथा बालियों से अलग हो जाते है। बेलन व अवतल पृष्ठ की दूरी घटाई–बढ़ाई जा सकती है जो फलानुसार तथा उसकी नमी की मात्रा पर निर्भर करती है।

पृथक्कारी इकाई – अब भूसे से दाने अलग करने का कार्य पृथक्कारी इकाई द्वारा किया जाता है। गहाई के बाद दानें भूसे से भारी होने के कारण गिर जाते है। कुछ दाने जो भूसे के साथ उलझे होते है एक हिस्से पर पहुँचते है जिनको स्ट्राॅटेक या स्ट्रावाकर कहते है। जब भूसा मिश्रित दाना स्ट्राटेक पर आता है तो दानें स्ट्राटेक की प्रत्यागामी गति के साथ भूसे से अलग होकर स्ट्राटेक के छिद्रों से नीचे गिर जाते है। स्ट्रावर की चाल भी निश्चित (इष्टतम) होनी चाहिए। यदि स्ट्रावर की चाल इष्टतम चाल से अधिक होती है तो दाने भूसे के साथ खेते में गिर जाते है, यदि उसकी चाल इष्टतम स्तर से कम होती है तो दानें भूसे से अलग नहीं हो पाते तथा भूसे के साथ खेते में गिर जाते है।

सफाई इकाई – भूसे से अलग होने पर दाने एक चलनी में जाते है। चलनी छिद्रों का आकार फसल के दानों पर निर्भर करता है अर्थात् चलनी फसलानुसार बदल दी जाती है। अभी तक दानों के साथ भूसे के डंठल व खरपतवार के बीज साथ रहते है जो चलनी के बाद पंखें की हवा से विजातीय बीज उड़कर बाहर निकलने लगेंगे तथा शुद्ध दानें छलनी से छनकर एलीवेटर (उत्थापक) के द्वारा बोरे में भरने के लिए टंकियों में भेज दिया जाता है।

कम्बाईन में खराबियां एवं उनको दूर करने के उपाय :–

1. **दानों का टूटना :–** सिलिण्डर की चाल घटाईये। फसल अधिक सूखी होने पर भी ऐसा होता है।
2. **दानों का बालियों में लगा रहना :–** फसल में नमी अधिक होने से ऐसा हो सकता है इसलिए फसल को सुखाएं तथा सिलिण्डर की गति बढ़ायें।
3. **सिलिण्डर पर फसल का लिपटना :–** सिलिण्डर की गति बढ़ाये तथा फसल गीली हो तो उसे सुखायें।
4. **चलनी पर माल का अधिक होना :–** चलनी के छेद बड़े करे पंखे की चाल बढ़ायें। वायु द्वार के छेद बड़ें करें। चलनी की गति बढ़ायें।
5. **भूसे के साथ खुले दानों का आना :–** मशीन का अगला भाग नीचा कीजिए। सिलिण्डर की चाल कम कीजिए। कटाई इकाई की गति कम कीजिए। सिलिण्डर और कोनकेव के बीच की दूरी कम कीजिए।
6. **दानो के साथ भूसे का आना :–** पंखे व स्ट्राटेक की गति बढ़ाईये। छिद्रों का आकार कम तथा सिलिण्डर की गति बढ़ावें साथ ही सिलिण्डर व कानकेव की बीच की दूरी बढ़ाईये।

कम्बाइन में समायोजन –

1. फसल की सही कटाई के लिए कटाई दण्ड (हीडर) की ऊँचाई उचित होनी चाहिए (सामान्यतः 4 से 8 सेमी.)।
2. रील की गति मशीन की गति से 25–30% अधिक होनी चाहिए जिनके अनुपात को रील स्पीड इण्डेक्स कहते है।
3. फसल की किस्म तथा उसकी दशा के अनुसार सिलिण्डर की गति और इसकी कानकेव के मध्य की दूरी रखनी चाहिए।
4. जरूरत के अनुसार चलनियों के छिद्रों का आकार छोटा या बड़ा किया जाता है।
5. पंखें की गति और हवा की दिशा ठीक तरह से होनी चाहिए।

कम्बाइन के कार्य क्षमता ज्ञात करने का सूत्र –

C = 1000 X S X W X कार्य क्षमता (%)/10000

या

C = S X W X कार्य क्षमता (%)/10

C = प्रति घंटा किया गया कार्य (हेक्टेयर क्षेत्रफल में)

W = कटबार की लम्बाई (मीटर में)

S = चाल प्रति घंटा (किलो मीटर में)

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. भू–परिष्करण कितने प्रकार का होता है?
   (अ) पाँच (ब) दो
   (स) तीन (द) एक

2. केन्द्रीय कृषि इंजीनियरिंग संस्थान की स्थापना किस वर्ष में हुई थी?
   (अ) 1950 (ब) 1956
   (स) 1976 (द) 1986

3. देशी हल का भाग नहीं है ।
   (अ) शू (ब) हरीस
   (स) पेडल (द) हत्था

4. मोल्ड बोर्ड हल का उपयोग कौनसे कार्य के लिये किया जाता है?
   (अ) बुआई (ब) कटाई
   (स) मिट्टी पलटने (द) समतल करने में

5. कम्बाइन का कार्य होता है ।
   (अ) जुताई (ब) कटाई एवं मड़ाई
   (स) बुआई (द) उपरोक्त सभी

6. ट्रेक्टर चलित हैरो में कितने डिस्क होते हैं?
   (अ) 2–4 (ब) 3–4
   (स) 4–10 (द) 4 से कम

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

7. भू–परिष्करण को परिभाषित करें।
8. प्लान्टर क्या है?
9. हरीस क्या है?
10. कल्टीवेटर से आप क्या समझते हैं?
11. क्लच का क्या कार्य है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न–

12. देशी हल का कार्य एवं इसके मुख्य भाग कौन–कौन से है?
13. हैरो से आप क्या समझते हैं?
14. बीज उर्वरक ड्रिल क्या है?
15. कल्टीवेटर एवं हैरो में क्या अंतर है?
16. प्लान्टर कितने प्रकार के होते हैं? नाम लिखिए । प्लान्टर उपयोग में लेते समय क्या सावधानी रखनी चाहिए ?

निबन्धात्मक प्रश्न–

17. डिस्क हल एवं डिस्क हैरो में क्या अन्तर होता है? लिखिए ।
18. कम्बाइन क्या है? इसके प्रकार, लाभ तथा हानियों के बारे में विस्तार से लिखिए ।
19. थ्रेसर की कार्य प्रणाली का सचित्र वर्णन करें ।
20. बैल चलित यंत्रों का वर्णन करें ।
21. कृषि यंत्रीकरण के लाभ एवं हानियों के बारे में लिखे ।
22. कृषि में काम आने वाले यंत्रों का वर्गीकरण करें ।
23. हैरो का मुख्य कार्य एवं इसके प्रकार के बारे में चर्चा करें ।

उत्तरमाला–

1. ब 2. स 3. स 4. स 5. ब 6. स